पीअर रिव्यूड एंड रेफेरीड जर्नल

ISSN 2231-1351

PADCHINHA

पदचिन्ह

वर्ष ६ अंक ६ अगस्त २०१७

Peer Reviewed and Refereed Journal of Multidisciplinary.
UGC Approved Journal No. 49359

UGC Approved Journal No. 49359 ISSN 2231-1351

PADCHINHA: Peer Reviewed & Refereed Journal of Multidisciplinary

पदचिन्ह

अगस्त, 2017 वर्ष 6 अंक 6

संपादक

अजय परमार

B-30/239 नगवां, लंका, वाराणसी-221005

padchinhahindi@gmail.com

सह-संपादक

पंकज कुमार सिंह

पचपोखरी, रोहतास (सासाराम)

पिन- 802217 मो. 9823696685

gandhikhadi@gmail.com

© पदचिन्ह में व्यक्त विचार और सर्वाधिकार लेखकों के अपने हैं। प्रकाशित विचारों से संपादक व संपादक-मंडल की सहमति अनिवार्य नहीं है। उक्त सभी पद अवैतनिक हैं। किसी भी वाद-विवाद का न्याय क्षेत्र वाराणसी होगा।

पीअर रिव्यूड एंड रेफेरीड जर्नल R.N.I. UPHIN/2011/37186

संपादक-मंडल/ रेफेरीड बोर्ड

प्रो. प्रेमनारायण सिंह
शिक्षाशास्त्र विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी (उ. प्र.) पिन-221002

प्रो. नृपेन्द्र प्रसाद मोदी
अध्यक्ष, गांधी एवं शांति अध्ययन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन-442001

डॉ. मनोज कुमार राय
गांधी एवं शांति अध्ययन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन-442001

डॉ. गोविन्द प्रसाद वर्मा
सहायक प्रोफेसर, मानविकी और भाषा संकाय
महात्मा गाँधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतिहारी
बिहार पिन-845401

डॉ. उमेश कुमार सिंह
हिंदी समय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन-442001

डॉ. रणजीत कुमार
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन-442001

प्रदीप त्रिपाठी
हिंदी विभाग एवं तुलनात्मक साहित्य
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन-442001

डॉ. अमरेन्द्र त्रिपाठी
एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
उत्तर प्रदेश, पिन-211002

डॉ. परिमल प्रियदर्शी
अनुसंधान अधिकारी, शोध सहायता प्रकोष्ठ
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन-442001

डॉ. धीरेन्द्र कुमार राय
पत्रकारिता एवं जनसंप्रेषण विभाग
काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

अशीष कुमार
संपादक, सृजन समय
बहुद्देशीय सामाजिक संस्था, वर्धा - 442001

श्रीकांत जायसवाल
प्रवासन एवं डायस्पोरा अध्ययन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन-442001

सलाहकार समिति

डॉ. राजीव रंजन गिरि
हिंदी विभाग, राजधानी कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली 110015

डॉ. निशीथ राय
मानवविज्ञान विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन-442001

पदचिन्ह के लिए प्रकाशक अजय परमार, बी.- 30/239, नगवां, लंका वाराणसी द्वारा प्रकाशित और सूर्या आफसेट, 30, विवेकानंद कालोनी, मलदहिया, वाराणसी में मुद्रित। संपादक : अजय परमार

पदचिन्ह अगस्त, 2017 वर्ष 6 अंक 6

अनुक्रम

	संपादकीय	पृष्ठ सं.
1.	रामचरितमानस के शैक्षिक दर्शन की प्रासंगिकता _**डॉ. प्रतिभा राय**	05-10
2.	कुबेरनाथ राय के ललित निबंधों में मानवीय मूल्यों का चित्रण _**महिमा एम.**	11-14
3.	बौद्ध दर्शन में प्रतिबिम्बित शैक्षिक दर्शन की समसामयिक…. _**डॉ. राकेश उपाध्याय**	15-20
4.	हिन्दी की जातीय परम्परा; सॉनेट और त्रिलोचन _**डॉ. वीना सुमन**	21-26
5.	A Communication and Cultural Approach to Address Water Crisis _ **Dr. Sudarshan Yadav**	27-34
6.	हिंदी मिश्र वाक्य संरचना : विभिन्न पक्ष _**पंकज कुमार मिश्र**	35-39
7.	हिंदी रंगमंच में बादल सरकार और तीसरे रंगमंच की प्रासंगिकता _**रोहित कुमार**	40-46
8.	Nutritional Status Among Children of Kanwar Tribes…_**Pooja Banjarey**	47-54
9.	Prospects of Silk Industry in India with Spacial… _**Dr. Ravindra Kumar**	55-62
10.	शैलेन्द्र के गीतों में जीवन दर्शन _**डॉ. बलवंत वसंत जेऊरकर**	63-68
11.	स्त्री विमर्श में पितृसत्ता की भूमिका _**क्षमा**	69-72
12.	मुस्लिम समाज में परिवार नियोजन की प्रासंगिकता और स्त्री _**हुस्न तबस्सुम**	73-81
13.	स्त्री केवल देह है… _**डॉ. नीतू जय सिंघानी**	82-86
14.	भूमंडलीकरण की संस्कृति : कुछ विचारणीय बिंदु _**डॉ. जयन्त कुमार कश्यप**	87-91
15.	Allegories used in goa by asif currimbhoy _**Kritanjay Tripathi**	92-98
16.	The Binary of Nature and Culture as States of Being in Han Kang's "The Vegetarian" _ **Dr. Jaya Kapoor**	99-107
17.	समकालीन राजनीति और नागार्जुन का साहित्य _**डॉ. देवीलाल प्रसाद**	108-115
18.	स्त्री विमर्ष में श्रम और भूमंडलीकरण _**उमा देवी**	116-119
19.	नई तालीम के ऐतिहासिक संदर्भ _**डॉ. अभिनव सिंह**	120-124
20.	An Analysis of Locke's Theory of Knowledge _**Pervash Kumar**	125-134
21.	जनसंचार, साहित्य और सोशल मीडिया _**डॉ. राजेश चन्द आदर्श**	135-140

संपादकीय

हम जो शोध पत्र लिखते हैं, उसके निष्कर्ष निकालते हैं; वह अंतिम सत्य नहीं होता। किंतु हममें से बहुत लोग अपने निष्कर्ष से चिपके रहते हैं। यहाँ तक कि अपने व्यवहारिक जीवन में भी अपने बातों पर अड़े हुए दिखते हैं। हम जानते हैं कि ज्ञान का क्षेत्र बहुत व्यापक है। अतः अपने समझ को सर्वव्यापी व सर्वकालिक न माने। हम अपने समझ को मुल्यांकन करें तो पाते हैं कि उसमें परिवर्तन दिखाई देता है।

इस संदर्भ में महात्मा गाँधी ने कहा था, " मेरे लेखों की मेहनत से अध्ययन करनेवालों और उनमें दिलचस्पी लेनेवालों से मैं यह कहना चाहता हूँ कि मुझे हमेशा एक ही रूप में दिखाई देने की कोई परवाह नहीं है। सत्य की अपनी खोज में मैंने बहुत से विचारों को छोड़ा है और अनेक नई बातें मैं सीखा भी हूँ। उम्र में भले मैं बूढ़ा हो गया हूँ, लेकिन मुझे ऐसा नहीं लगता कि मेरा आन्तरिक विकास होना बन्द हो गया है या देह छूटने के बाद मेरा विकास बन्द हो जाएगा। मुझे एक ही बात की चिन्ता है, और वह है प्रतिक्षण सत्य-नारायण की वाणी का अनुसरण करने की मेरी तत्परता। इसलिए जब किसी पाठक को मेरे दो लेखों में विरोध जैसा लगे, तब अगर उसे मेरी में विश्वास हो तो वह एक ही विषय पर लिखे दो लेखों में से मेरे बाद के लेख को प्रमाणभूत माने (हरिजनबन्धु, 30-04-1933)।"

रामचरितमानस के शैक्षिक दर्शन की प्रासंगिकता

डॉ. प्रतिभा राय*

pratibha_faiz@yahoo.co.in

रामचरितमानस विलक्षण ग्रन्थ है जिसमें प्रतिपादित शैक्षिक दर्शन सनातन एवं सार्वकालिक है। यद्यपि रामचरितमानस की रचना हुए चार सौ वर्ष से अधिक का समय व्यतीत हो चुका है फिर भी इस महाग्रन्थ की उपयोगिता/प्रासंगिकता निरन्तर बढ़ती जा रही है। शैक्षिक दर्शन से आशय उन मानवीय मूल्यों से है जिनमें ज्ञान की गरिमा, विद्या की आत्मपरिष्कार विषयक क्षमता और शिक्षापरक सदाशयता विद्यमान हो। रामचरितमानस ज्ञान का कोश ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के रचनाकार महाकवि गोस्वामी तुलसीदास ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कह दिया है कि- अनेक पुराण वेद और तन्त्र शास्त्र से सम्मत तथा जो रामायण में वर्णित है और कुछ अन्यत्र से भी उपलब्ध श्री रघुनाथ जी की कथा को तुलसीदास अपने अन्तरूकरण के सुख के लिए अत्यन्त मनोहर भाषा रचना में विस्तृत करता है।[1]

शैक्षिक दर्शन आत्मचिन्तन को परिपुष्ट करता है। प्रत्येक मानव को यह विचार करना चाहिए कि वह क्या सोच रहा है और क्या कर रहा है। क्या उसके चिन्तन और कर्म से व्यक्तिगत उन्नति होगी ? सामाजिक समरसता संवर्धित होगी। रामचरितमानस की उपयोगिता का विश्लेषण करते हुए ग्रन्थकार गोस्वामी तुलसीदास ने जिन तथ्यों की उद्भावना की है उनमे भारतीय दर्शन के गुणसूत्र के साथ ही कर्मयोग की पृष्ठभूमि भी प्रतिपादित है। इस ग्रन्थ के शैक्षिक दर्शन व्यक्ति के परिष्कार के साथ ही समाज के परिष्कार के सूत्रों से सुसज्जित है गोस्वामी तुलसीदास लिखते है कि- यह रामचरितमानस पुण्य रूप, पाप का हरण करने वाला, सदा कल्याणकारी, विज्ञान और भक्ति को देने वाला, माया मोह और मल का नाश करने वाला परम निर्मल प्रेम रूपी जल से परिपूर्ण तथा मंगलमय है। जो मनुष्य भक्ति पूर्वक इस मानसरोवर मे गोता लगाते है, वे संसार रूपी सूर्य की अति प्रचण्ड किरणो से नहीं जलते।[2]

शिक्षा का उद्देश्य मानव की संवेदनाओं को विकसित करना है, विपरीत परिस्थितियों में तालमेल बिठाने की क्षमता को संवर्धित करना है। रामचरितमानस एक मार्गदर्शक ग्रन्थ है जिससे हम विपरीत परिस्थितियों में भी मानसिक स्थिरता कायम रख सकते हैं। हिन्दी साहित्य के सुचर्चित समालोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि-'मानस' के काव्य-पक्ष का तो कहना ही क्या है! उसके भीतर मनुष्य जीवन में साधारणतः आनेवाली प्रत्येक दशा और प्रत्येक परिस्थिति का सन्निवेश तथा उस दशा और परिस्थिति का अत्यंत स्वाभाविक, मर्मस्पर्शी और सर्वग्राह्य चित्रण है।[3]

* **एसोसिएट प्रोफेसर & विभागाध्यक्ष, बी.एड्., का. सुं. साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अयोध्या, फैजाबाद**

शिक्षा का लक्ष्य मानव विवेक को जाग्रत किये रखना है। विवेकशून्य व्यक्ति पशु के समान होता है। जब व्यक्ति में करणीय/अकरणीय का ज्ञान होता है तब वह सही निर्णय लेता है। विद्यार्थी हो या विद्वान् हो, साक्षर हो या निरक्षर हो उसे जीवन की कुरुप एवं बीभत्स समस्याओं का सामना करना ही पड़ता है। ज्ञान के सम्बल से ही विपरीत परिस्थितियों का सामना किया जा सकता है। यदि शिक्षार्थी के मन में बाल्यकाल से ही यह धारणा घर कर जाय कि संकटों से घबराना नहीं है बल्कि उससे पार पाने का तरीका ढूँढना है तो मानसिक विचलन अल्पतम होंगे। चन्द्रबली पाण्डेय ने रामचरितमानस में प्रतिम्बित शैक्षिक मूल्यों की मीमांसा करते हुए लिखा है कि-'यह विश्व का एक विशिष्ट महाकाव्य है। वस्तुतः जीवन की उलझन का वह एक अत्यंत सुलझा हुआ ग्रंथ है।'[4]

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी मात्र एक स्वतंत्रता संग्राम सेनानी ही नहीं थे बल्कि गम्भीर विचारक और भविष्य द्रष्टा भी थे। उनके मनोमस्तिष्क में समुन्नत भारत की स्पष्ट रूपरेखा थी। वे उस शिक्षा को अधिक प्रभावी मानते थे जो अपनी भाषा में दी गयी हो। नयी शिक्षानीति में भी अपनी अपनी अपनी भाषाओं में शिक्षा प्राप्त करने की प्रवृत्ति को प्रधानता दी गयी है। अपनी भाषा से अपनी सभ्यता संरक्षित रहती है। शिक्षा का लक्ष्य संस्कृति-सभ्यता को विकसित करना भी है, उसे नयी पीढ़ी को इस महान धरोहर को सौंपना भी है। रामचरितमानस की इन्ही शैक्षिक विशेषताओं को ध्यान में रखकर महात्मा गाँधी ने लिखा है कि-भारत की सभ्यता की रक्षा करने में तुलसीदास ने बहुत अधिक भाग लिया है। तुलसीदास के चेतनमय रामचरितमानस के अभाव में किसानों का जीवन जड़वत् और शुष्क बन जाता है। पता नहीं कैसे क्या हुआ, परन्तु यह निर्विवाद है कि तुलसीदास जी की भाषा में जो प्राणप्रद शक्ति है वह दूसरों की भाषा में नहीं पाई जाती। रामचरितमानस विचार-रत्नों का भण्डार है।[5]

शिक्षा मानव के विकास की आधार शिला है। जहाँ विकास नहीं वहाँ विनाश स्वाभाविक ही है। जहाँ गति नहीं है वहाँ जड़ता स्वयमेव आ जायेगी। जो व्यक्ति स्वयं का विकास कर लेता है वह ही समाज का पथप्रदर्शक बन सकता है। व्यक्ति में विकास की असीम संभावनाएँ होती हैं जिसे वह स्वाध्याय, कर्मयोग और औपचारिक शिक्षा आदि के माध्यम से प्राप्त कर सकता है। स्वामी विवेकानन्द की मान्यता है कि- सारी शिक्षा का ध्येय है मनुष्य का विकास। वह मनुष्य जो अपना प्रभाव सब पर डालता है, जो अपने संगियों पर जादू-सा कर देता है, शक्ति का एक महान केंद्र है और जब वह मनुष्य तैयार हो जाता है, तो वह जो चाहे कर सकता है। यह व्यक्तित्व जिस पर अपना प्रभाव डालता है, उसी को कार्यशील बना देता है।[6]

रामचरितमानस मानव विकास का शिक्षा केन्द्र है। सत् का पक्षधर और असत् का विरोधी है। रामराज्य का समर्थक और रावणराज्य का निन्दक है। श्रीराम, भरत तथा हनुमान आदि पात्रों ने प्रथमतः अपने व्यक्तित्व का विकास किया फिर समाज के संकटों को दूर करने के लिए स्वयं को समाज को समर्पित कर दिया। रामचरितमानस की शैक्षिक प्रासंगिकता में इन प्रकरणों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है कि-श्रेष्ठ शिक्षा वह नहीं जो केवल जानकारी दे। सच्ची शिक्षा वह है जो हमारे जीवन और वातावरण

में सामंजस्य स्थापित करे।7 रामचरितमानस 'सामंजस्य' का महाकाव्य है। श्रीराम को सामाजिक सम्मान प्राप्त करने के लिए कितनी यातनाओं को सहना पड़ा कौन कह सकता है ? जिस व्यक्ति का प्रातःकाल राज्याभिषेक होना हो उसे प्रातःकाल चौदहवर्ष के वनवास की सूचना वह भी बिना किसी अपराध के दी जाय तो मन पर क्या गुजरेगी ? सहज कल्पना की जा सकती है; पर श्रीराम ने इस वातावरण में भी सामंजस्य बनाये रक्खा जो शिक्षा का निहितार्थ है। सीता ने लंका में अनेक प्रकार के कष्ट सहे पर धैर्य का साथ नहीं छोड़ा। रामचरितमानस मानव-जीवन की समस्याओं में सामंजस्य बिठाने का सहज माध्यम-ज्ञान प्रस्तुत करता है। शिक्षा केवल वह ही नहीं है जो कक्षाओं में प्राप्त की जाय, शिक्षकों के मुख से सुनी जाय, पाठ्यक्रमों में निर्धारित हो बल्कि शिक्षा प्रकृति से, संस्कृति से और अपनी महान् कृतियों, रचनाओं से प्राप्त की जा सकती है। रामचरितमानस का शाश्वत उद्घोष है कि श्रीराम चरित्र पर आधारित शिक्षा और उसका दार्शनिक मूल्य सदैव प्रासंगिक रहेगा।

हमें यदि अपने पूर्वजों के साहित्य की जानकारी लेनी होगी। उनके द्वारा विविध अर्जित ज्ञानराशि का उपयोग करना होगा तो हमें अपने प्राचीन ग्रन्थों की ओर दृष्टिपात करना ही पड़ेगा और इन ग्रन्थों में रामचरितमानस का विलक्षण स्थान है। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने ठीक ही कहा है कि- बीती पीढ़ी का अनुभव आगामी पीढ़ी के लिए उपलब्ध कराने का नाम ही शिक्षा है फिर वह पुस्तकों से मिलती हो या अन्य किसी माध्यम से।[8]

आज पर्यावरण प्रदूषण कितना बढ़ गया है कौन नहीं जानता ? यदि पर्यावरणीय शिक्षा को प्रायोगिक धरातल पर नहीं उतारा गया तो जीव जगत् का अस्तित्व ही संकट में पड़ जायेगा। रामचरितमानस की पर्यावरणीय शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि शाश्वत है। रामराज्य की इस विशेषता को आज बनाये रखना है। इससे जीवजगत् का अस्तित्व जुड़ा है। जब राम-राज्य में, मानव'जीवन की परिपूर्णता तथा उच्चता चेतन-जगत् के मानवेतर पशुपक्षियों के साथ, जड़जगत् को भी प्रभावित कर देती है, तब मानव की परिपूर्णता की दशा में प्रकृति के सभी तत्त्व उसकी आज्ञा के पालक बन जाते हैं और उसके सहायक बनकर अपेक्षित सुख-सौविध्य का विधान करते हैं। मानवीय सौख्य और शान्ति सारी प्रकृति में भी छा जाती है। वनों में वृक्ष फूलते-फलते हैं। पशु-पक्षियों में प्रेम का राज्य हो जाता है, वैर भूलकर हाथी और सिंह जैसे परस्पर विरोधी पशु भी, एक साथ रहने लगते हैं, खगमृग निर्भय होकर आनन्द मना रहे हैं, शीतल, मन्द और सुगन्धित वायु गतिशील है, भ्रमर गुंजनरत हैं। लता, वृक्ष मनचाहा फल तथा गायें मनचाहा दूध देती हैं, पृथिवी सदा खेती की सम्पत्ति से सम्पन्न रहती है। परिणामस्वरूप त्रेतायुग में भी जैसे सत्ययुग आ गया है-

फूलहिं फलहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक संग गज पंचानन।।

खग-मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई।।

कूजहिं खग-मृग पवन बह मंदा। गुंजत अलि लै चलि मकरंदा।।

लता बिटप मांगे मधु चावहीं। मनभावतो धेनु पय स्रबहीं।।

ससि संपन्न सदा रह धरनी। त्रेताँ भइ कृतजुग कै करनी।।[9]

समस्त जगत् के आत्मा भगवान् राम को राजा जानकर पर्वत, सरितायें, सागर, चन्द्रमा, सूर्य तथा बादल सब मिलकर, इस धरती को सुख का आगार बना रहे हैं-

प्रगटीं गिरिन्ह बिबिध मनि खानी। जगदातमा भूप जग जानी।।
सरिता सकल बहहिं बर बारी। सीतल अमल स्वाद सुखकारी।।
सागर निज मरजादाँ रहहीं। डारहिं रत्न तटन्हि नर लहहीं।।

सरसिज संकुल सकल तड़ागा। अति प्रसन्न दस दिशा विभागा।।

बिधु महिपूर मयूखन्हि रबि तप जेतनेहि काज। माँगे बारिद देहिं जल रामचंद्र के राज।।[10]

ऊपर मनवेतर जगत् की जो उत्तम स्थिति रामराज्य में दृष्टिगोचर होती है, उससे यह तथ्य स्पष्ट है कि रामराज्य में पर्यावरण सर्वांशतः शुद्ध, परिष्कृत, सन्तुलित तथा मानव जगत् का सहयोगी था। जिय पर्यावरण की अनुकूलता तथा परिशुद्धि के लिए आधुनिक जगत् अमूल्य धनराशि व्यय कर रहा है और अथक प्रयास कर रहा है, वह अनुकूलता एवं परिशुद्धि रामराज्य में सहजतः सुलभ थी। प्रकृति के इस प्रकार के सहयोग से एक ओर जहाँ रामराज्य की आर्थिक अभ्युन्नति का द्योतन होता है, वहीं दूसरी ओर उसके जनजीवन की स्वस्थता एवं खुशहाली का भी प्रकाशन होता है। रामराज्य की यह स्थिति निस्सन्देह वरेण्य और आज के युग के लिए सर्वथा अनुकरणीय है।

हमें रामचरितमानस से जनसेवा की शिक्षा मिलती है। मानव सामाजिक प्राणी है। वह तभी सामाजिक कहा जायेगा जब वह दूसरे के दुखों में हाथ बँटावे जो दूसरों की निन्दा न करे।[11]

तटस्थता विषयक शिक्षा का सूत्र रामचरितमानस में उपलब्ध है। तटस्थता से तात्पर्य पक्षपात रहित परिस्थिति से है। संत, सज्जन समाज के अग्रचेता सबके साथ पक्षपात रहित व्यवहार करते हैं। संतों-सज्जनों के लिए कोई अपना-पराया नहीं। पुष्प से दोनों हथेलियाँ सुगंधित हो जाती हैं।[12] रामचरितमानस की शिक्षा है कि संसार अच्छाइयों और बुराईयों से भरा पड़ा है, जिस प्रकार हंस नीर-क्षीर विवेक करता है, उस प्रकार संत-सज्जन अच्छे को स्वीकार करते हैं और खराब का तिरस्कार करते हैं।[13] यदि किसी आदमी को कुत्ता काट ले तो क्या उसे पलटकर कुत्ते को काट लेना चाहिए ? ऐसी मूर्खता कौन करेगा ? समाज में श्रेष्ठ वही है जो नुकसान करने वाले का भी फायदा करे।[14] संत वही है, सज्जन वही है, सामाजिक वही है जो दूसरों के हित के लिए कष्ट सहे। जो दूसरों को कष्ट देते हैं वे असंत, अभागी हैं। असामाजिक हैं।[15] संत-सामाजिक का हृदय कोमल होता है, मक्खन के समान होता है जो दूसरों के दुःख से द्रवित होता है।[16]

वस्तुतः रामचरितमानस लोककल्याण की शिक्षा को प्रधानता देता है। समाजोत्थान को महत्त्व देता है। यह गुण सूत्र ही तो शैक्षिक दर्शन की नींव है। इसी में रामचरितमानस के शैक्षिक दर्शन की प्रासंगिकता सन्निहित है।

संदर्भः-

1. नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति।। तुलसीदास (रामचरितमानस, 1। श्लोक 7)

2. पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं
मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूतं शुभम्।
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भकृत्यावगाहन्ति ये
ते संसारपतंगघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः।। (रामचरितमानस, 7।130।2)

3. शुक्ल रामचन्द्र-गोस्वामी तुलसीदास, पृ0-63।

4. पाण्डेय चन्द्रबली-तुलसीदास, पृ0-87।

5. महात्मा गाँधी (गांधीसंपूर्ण वाड्.मय, खंड-41, पृ0-400।

6. स्वामी विवेकानन्द (विवेकानन्द साहित्य, चतुर्थ खंड, पृ0-172।

7. रवीन्द्रनाथ ठाकुर (दि स्प्रिट आफ जापान, पृ0-116।

8. वर्मा श्याम बहादुर-विश्वसूक्ति कोश में उद्धृत।

9. रामचरितमानस-उत्तरकाण्ड, दोहा 22-23 के मध्य।

10. रामचरितमानस-उत्तरकाण्ड, दोहा 22-23 के मध्य।

11. साधु चरित सुभ चरित कपासू।
निरस बिसद गुनमय फल जासू।।
को सहि दुख परछिद्रदुरावा।
बंदनीय जेंहि जग जस पावा।।-तुलसीदास (रामचरितमानस, बालकाण्ड दो. 1-2 के मध्य)

12. बंदउं संत समान चितहित अनहित नहीं कोइ।
अंजलि गत सुभ सुमन जिमि सम सुगन्ध कर दोइ।।
-तुलसीदास (रामचरितमानस बा0का0दो0 0-3 के मध्य)

13. जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार।।
-तुलसीदास (रामचरितमानस बा0का0दो0 7 के मध्य)

14. उमा संत कह इहइ बड़ाई।
मंद करत जो करइ भलाई।।
-तुलसीदास (रामचरितमानस सुन्दरकाण्ड दो0 40-41 के मध्य)

15. संत सहहिं दुख पर हित लागी।
परदुख हेतु असंत अभागी।।
-तुलसीदास (रामचरितमानस उ0का0दो0 120-121 के मध्य)

16. संत हृदय नवनीत समाना।
कहा कबिन्ह परि कहै न जाना।।
निज परिताप द्रवइ नवनीता।
पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता।।
-तुलसीदास (रामचरितमानस उ0का0दो0 124-125 के मध्य)

कुबेरनाथ राय के ललित निबंधों में मानवीय मूल्यों का चित्रण

महिमा एम.*

malumahima@gmail.com

स्वातंत्र्योत्तर ललित निबंधकारों की परम्परा में कुबेरनाथ राय का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। उन्होंने चार दशकों तक अपने ललित निबंधों का संग्रह प्रकाशित करते हुए हिन्दी निबंध साहित्य को समृद्ध किया है। वे भारतीय संस्कृति के उदात्त तत्वों को आधुनिक जीवन के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करनेवाले रसधर्मी निबंधकार हैं। लिलत निबंध के सन्दर्भ में उनका यह कथन उल्लेखनीय है – "जो निबंध विषय के आसपास शिव की सांड की तरह छुट्टा यानी मुक्त रूप से चरण और संचरण –विचरण करे वह है ललित निबंध"।[1] 'प्रिया नीलकंठी', 'रस-आखेटक', 'गंधमादन', 'विषाद योग', 'निषाद बाँसुरी', 'पर्ण मुकुट', 'महाकवि की तर्जनी', 'कामधेनु', 'पत्र मणिपुतुल के नाम', 'मन पवन की नौका', 'किरात नदी में चन्द्र मधु', 'दृष्टि-अभिसार' एवं 'त्रेता का बृहत्साम' में उनके ललित निबंध संग्रहीत हैं।

प्रत्येक व्यक्ति के लिए क्या उचित है क्या अनुचित है इसका बोध करानेवाले तत्व को मूल्य कहा जाता है। भारतीय समाज में मूल्यों का स्थान सर्वोपरी माना जाता है क्योंकि इन्हीं के सहारे प्रत्येक व्यक्ति अपना जीवन व्यतीत करता है। वेद, पुराण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत तथा अन्य प्राचीन ग्रंथों में विभिन्न मानवीय मूल्यों का उल्लेख दृष्टिगत होते हैं। समस्त मानव जाती को सुसंस्कृत होने के लिए मूल्यों का सहारा लेना पड़ता है। कुबेरनाथ राय एक ऐसे निबंधकार हैं जिन्होंने अपने निबंधों के ज़रिए पाठकों को मानवीय जीवन मूल्यों की गरिमा का एहसास दिलाया। उनके लगभग सभी निबंध सत्य, अहिंसा, करुणा, दया, समानता, एकता, प्रेम, परोपकार, संवेदनशीलता, निष्ठा, विश्वास, समन्वयता, त्याग, तप, धार्मिक सहिष्णुता, स्वातंत्र्य, सद्भावना, उदारता, सौन्दर्य, कर्तव्यनिष्ठता आदि मानवीय मूल्यों से ओतप्रोत हैं।

भारतीय संस्कृति सत्य पर टिकी हुई है। 'सच बोलना ही कविता है' शीर्षक निबंध में उन्होंने गाँधीवादी दृष्टि से सत्य की व्याख्या प्रस्तुत की है। गाँधीजी का समर्थन करते हुए वे कहते हैं कि जो सच बोलता है वही सबसे बड़ा कवि है। वे कहते हैं कि जीवन का सम्पूर्ण संविधान सत्य पर आधारित है। जो सच्चाई या सत्य पर आधारित होता है उसी को वे सुन्दर मानते हैं। पत्रात्मक शैली में लिखे गए इस निबंध में अपने भ्रातृवधू से वे कहते हैं कि यदि तू झूठी होती तो हेमामालिनी जैसा चेहरा होने पर भी भयंकर ही लगती। उनके अनुसार तन-मन-वचन की निर्मलता ही सच्चा सौन्दर्य है। 'त्रेता का बृहत्साम' में सत्य के सम्बन्ध में वे इस प्रकार कहते हैं – "सत्य ही मनुष्य जीवन के सारे अंगों और क्रियाओं के मूल में हैं, सत्य के आगे कुछ भी नहीं, वही पराकाष्ठा है"।[2] सत्य को वे 'वास्तव' से कहीं अधिक मूलभूत और व्यापक तत्व मानते हैं।

भारतीय जन जीवन में वैदिक काल से लेकर आज तक अहिंसा का विशेष महत्त्व है। कुबेरनाथ राय के अनुसार त्याग, तप और अहिंसा का जो स्वरूप मध्ययुग में चालू था वह आज बिलकुल बदल गया है।

* **शोधार्थी, हिंदी विभाग, यूनिवर्सिटी कॉलेज, तिरुवनंतपुरम, केरल**

फिर भी कोई समाज त्याग और तप से हीन होकर, अहिंसा से रिक्त रहकर आगे नहीं बढ़ सकती। प्रत्येक युग में मनुष्य को एक दूसरे से बाँधने तथा हिंसा से दूर रहने के लिए अहिंसा अनिवार्य है। 'गाँधी की प्रासंगिकता', 'यमुना साँवरी' आदि निबंधों में उन्होंने अहिंसा के महत्त्व को उद्घाटित किया है। उनके अनुसार अहिंसा का व्यावहारिक अर्थ होता है पारस्परिक सहयोग, सद्भाव और पारस्परिक श्रध्दा की स्थापना। वे कहते हैं कि आजकल भारतीय राजनीति के परिवेश में जनशक्ति का जो रूप विकसित हो रहा है वह स्वयं हिंसाशक्ति है। जन मानस दिन-प्रतिदिन हिंसामुखी होते जा रहे हैं। आज लोग अहिंसा का मार्ग भूलते जा रहे हैं। हिंसात्मक भीड़ की शक्ति ही आधुनिक राजनीति में जनशक्ति कही जाती है। लेकिन इससे भिन्न भी एक शक्ति होती है, लोकशक्ति जिसकी सही प्रकृति है अहिंसा। 'जम्बूद्वीप' निबंध में वे कहते हैं कि भारतीय मूल्यों की सूची में तीन मूल्य बड़े ही स्पष्ट और मूलभूत हैं। वे हैं – अहिंसा (मैत्री और करुणा), समवाय (समन्वय) और सत्य-जिज्ञासा (वेदान्त)। ये तीनों मिलकर मनुष्यत्व का महायान रचते हैं। इसमें भी अहिंसा और सत्य-जिज्ञासा को वे सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। वे कहते हैं कि अहिंसक हुए बिना सह-अस्तित्व और समन्वय दृष्टि निष्पन्न नहीं हो सकती। अहिंसा का पालन करने के लिए सबसे पहले हमें निडर होना चाहिए। भयग्रस्त व्यक्ति न तो अहिंसक रह सकता है और न ही सत्यवादी। अहिंसा के बारे में उनका मत है – "इससे बढ़कर परमत सहिष्णुता की घोषणा और क्या हो सकती है? यह 'सारवृद्धि' का दर्शन ही 'समवाय' का दर्शन है। जिसे बुद्ध ने 'मैत्री करुणा' कहा है और जिसे एक शब्द में 'अहिंसा' कहा जाता है, 'समवाय' उसी का विस्तार है"।[3]

करुणा एक ऐसी मानवीय मूल्य है जिससे विश्व शान्ति प्रस्थापित हो सकती है। 'राघवः करुणो रसः', 'हेमंत की संध्या', 'सारंग', 'कठिन भूमि कोमल पग' आदि निबंधों के ज़रिए उन्होंने करुणा के महत्त्व को उद्घाटित किया है। 'हेमंत की संध्या' में वे कहते हैं कि – "पत्तियों का झरना धरती की करुणतम अवस्था है। करुणा में एक उदास सौन्दर्य की उपलब्धि एक सर्वसाधारण अनुभव है। करुणा विषाद की रोमांटिक अवस्था है। वही अनुभूति जब क्रूर रूप में घटित होकर कठोर सत्य बन जाती है तो हम उसे विषाद कहते हैं। मृत्यु का बोध विषाद है, करुणा नहीं। करुणा किसी न किसी रूप में जीवन से संलग्न रहती है। इसमें आस्था का एक क्षीण धागा बांधा रहता है"।[4] 'सारंग' शीर्षक निबंध में हिरण की मृत्यु का वर्णन वे इस प्रकार करते हैं कि पाठकों के मन में करुणा की अंतर्धारा बहने लगती है। वे कहते हैं कि मृग की मृत्यु अत्यंत करुण ढंग से होती है। मरते समय इसका चीत्कार और चेहरा देखकर कई शिकारी शिकार करना छोड़ देते हैं। वह आदमी की तरह व्यथा-स्वर में कराहता है और मरने पर उसका खुला मुँह, दाँतों की निकली पाँत मृत मानव के मुख से मिलती है। मृत मृग का मुँह देखकर उन्हें मसीहा का खुला शव मुँह याद आ जाता है। वे कहते हैं कि ईसा की शकल भी मृग-जैसी करुण – सुन्दर और निरीह है। मृत मृग का चेहरा सलीब से उतारे गए मसीहा के मृत शव-मुख सा करुण और मार्मिक लगता है। इसके अलावा रामायण पर आधारित निबंधों के माध्यम से भी उन्होंने करुणा का चित्रण किया है।

मानव जीवन प्रेम के नींव पर खडी हुई है। सृष्टि के चराचर में प्रेम-तत्व समाया हुआ है। प्रेम के कारण ही प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से जुडा रहता है। 'एक ग्रीक प्रोषितपतिका का आत्मकथ्य' में वे कहते हैं कि प्रणय

तभी संभव है जब दोनों और से सामान अनुराग, सामान आकर्षण तथा सामान छटपटाहट हो। अन्यथा प्रणय और बलात्कार में फर्क ही नहीं रह जाता। प्रेम के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है – "प्रेम के नाम पर प्राचीन रूमानी साहित्य, राधाकृष्णपरक गीतिकाव्य अथवा आधुनिक साहित्य तुम्हें जो कुछ परोसता है, वह है रूप का आकर्षण, उत्तेजना और रमणतृषा। वह है रति आर्त्ति और तृषा । स्मरण रहे बौध्द साहित्य में तीन बार जिन कन्याओं का, गौतमबुद्ध के तप भंग करने के प्रयास में, उल्लेख मिलता है, उनके नाम भी रति, आर्त्ति और तृषा ही हैं। मिलजुलाकर तुम लोगों की प्रेम की धारणा है – प्रेम माने संयम-भंग। पर यह 'प्रेम' नहीं 'काम' है। और यह अंतिम विश्लेषण में या तो रूपप्रलोभन है अथवा मानसिक बलात्कार। परन्तु प्रेम तो उत्तेजना से ऊपर स्थित है। वह शांत और अविकल स्थिति है। वह एक व्रत है। वह एक तप है। प्रेम सदैव प्रीती और अनुकम्पा से संयुक्त रहता है"।[5] उनके अनुसार जन-सामान्य के लिए प्रेम का निर्मलतम और वरेण्य रूप राम-सीता का ही प्रेम है। 'सम्पाती के बेटे' में वे कहते हैं कि आज प्रेम में पारस्परिक समर्पण का अभाव है। आज प्रत्येक प्रेमिका चंडिका है और प्रत्येक प्रेमी अघोर शिव। वे एक-दुसरे का मुण्ड काटने के लिए, एक दुसरे के व्यक्तित्व को अधिकृत करने के लिए लालायित हैं। इनमें अर्धनारीश्वर का नहीं बल्कि चण्डी भैरवी और अखोर भैरव का आपसी संघर्ष ही नज़र आते हैं। अर्धनारीश्वर तो पारस्परिक समर्पण और सह-अस्तित्व का प्रतीक है।

मानव जीवन में सौन्दर्य बहुत बड़ी भूमिका निभाती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने दृष्टिकोण से सौन्दर्य को पारखी है। सौन्दर्य आंतरिक भी हो सकता है और बाह्य भी। 'गूलर का फूल' में कुबेरनाथ राय गूलर के माध्यम से अपना सौन्दर्य बोध व्यक्त करते हैं। उनका मानना है कि चराचर को बाह्य सौन्दर्य से रिझाने से कोई लाभ नहीं हैं। जिन्हें वास्तव में रिझाना है वे तो अन्तर्मन के सौन्दर्य को ही देखते हैं। कुबेरनाथ राय कहते हैं कि हम लोग प्रायः उसी लड़की को सुन्दर मानते हैं जो सिनेमा का चलता-फिरता पोस्टर बनकर रहती है। यह हमारा दृष्टिभ्रम है। उनके मत में साज या रूप तभी सुन्दर है जब वह कर्म का सहयोगी हो। सुन्दर वही है जो सत्यता यानी सहजता-स्वाभाविकता और पवित्रता का बोधक है। अपनी बात का समर्थन करने के लिए उन्होंने गाँधीजी की पंक्तियों को उद्धृत किया है, जो इस प्रकार है - "मैं सौन्दर्य को सत्य के माध्यम से देखता हूँ। सभी सत्य, न केवल विचार बल्कि 'सच्चे चेहरे, सच्ची तस्वीरें और सच्चे गीत भी सुन्दर हैं। प्रायः लोग सच्चाई में सुंदरता देख नहीं पाते, साधारणजन इससे दूर हो जाते हैं और इसमें निहित खूबसूरती को देख नहीं पाते।"[6] सौन्दर्य तो कण-कण में व्याप्त है लेकिन उस के लिए मनुष्य को सूक्ष्म दृष्टि से देखना पड़ता है।

धार्मिक सहिष्णुता भारत की निजी विशेषता है। भारत हिन्दू, इस्लाम, ईसाई, जैन, बौद्ध, सिक्ख आदि विभिन्न धर्मों का देश है। इसलिए भारतीय समाज में धार्मिक सहिष्णुता का महत्वपूर्ण स्थान है। 'धर्म-निरपेक्षता : प्रकृति और विकृति' में वे धार्मिक सहिष्णुता की चर्चा करते हैं। भारतीय सन्दर्भ में धर्म निरपेक्षता का अर्थ धर्म-बहिष्कार नहीं बल्कि धार्मिक सहिष्णुता है। हमें अपने संप्रदाय की पूजा करने का अधिकार है। लेकिन इसके साथ-साथ एक दूसरे के धर्म को सुनना और उसका सम्मान करना भी आवश्यक है। धार्मिक सहिष्णुता के सन्दर्भ में वे महात्मा गाँधी को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे गाँधीजी को महामानव पुकारते हैं क्योंकि वे सब धर्मों का समान रूप से आदर करते थे।

कुबेरनाथ राय की जीवन-दृष्टि की एक प्रमुख विशेषता है समन्वयवाद। उनके निबंधों में व्यक्ति और समाज, भौतिकता और आध्यात्मिकता, लघु और बृहद, क्षणिक और शाश्वत, कोमल और कठोर, राग और विराग, सुख और दुःख, प्राचीन और नवीन, यथार्थ और आदर्श का समन्वय दृष्टिगत होते हैं। उन्होंने अपने निबंधों के द्वारा परस्पर विरोधी माननेवाले तत्वों के बीच समन्वय लाने की कोशिश की है। उनकी दृष्टि में मनुष्य न केवल पशु है और न ही पूर्ण रूप से देवता। वे मनुष्य की ऊँचाइयों को ही नहीं उसकी सीमाओं और क्षुद्रताओं को भी स्वीकार करते है। व्यक्ति और समाज के बीच समन्वय स्थापित करते हुए उन्होंने कहा है कि व्यक्ति अपनी विरोधी भावनाओं या वृत्तियों को प्रकट करने में पूर्णतया स्वतंत्र है। वे कहते हैं कि समाज के नीति-नियम तब तक मान्य है जब तक वे वैयक्तिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं करते। लेखक ने यथार्थ और आदर्श को समन्वित दृष्टिकोण से अपनाया है। यथार्थ जीवन की गतिविधियों का चित्रण करते हुए भी उनका झुकाव आदर्श की ओर है। कुबेरनाथ राय की निबंधों में परंपरा और आधुनिकता का सुंदर सामंजस्य नज़र आते हैं। 'सनातन नीम', 'सम्पाती के बेटे', 'शमी वृक्ष पर लटकते शव', 'बहुरूपी' आदि इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। भारतीय संस्कृति को परिभाषित करते समय उन्होंने इसे आर्य, द्राविड़, किरात, निषाद आदि विभिन्न संस्कृतियों का समन्वित रूप स्थापित किया है। उनके अनुसार महानगरीय संस्कृति में नैसर्गिक लोक संस्कृति का प्रसार होना आवश्यक है और दूसरी ओर ग्राम्य संस्कृति में महानगरीय सुख-सुविधाओं का समावेश आवश्यक है। 'बहुरूपी' शीर्षक निबंध में उन्होंने लिखा है - "वह कार्यक्रम होगा : उल्टा हाथ लगाना, 'उलटी यमुना' बहाना अर्थात लोक कलाओं को ही नागरिक संस्कृति के भीतर प्रविष्ट करा देना। इससे एक ओर तो नागरिक संस्कृति की कृत्रिमता घटेगी और दूसरी और लोक कलाओं में नगर-जीवन का संस्पर्श प्रवेश होने पर सुरुचि सम्पन्नता और सफाई आएगी।"[7] इस प्रकार कुबेरनाथ राय के निबंधों में विविध मानवीय मूल्यों का खुला चित्रण दृष्टव्य है। इन मूल्यों के अभाव में भ्रष्टाचार, आंतकवाद, दुराचार, ईर्ष्याभाव, जातीयता, दहशतवाद, सांप्रदायिक कट्टरता, अंधविश्वास, नैतिक मूल्यों की गिरावट, हिंसा, कपटता आदि पनपने लगते है। इसका संकेत उनके निबंधों में पाए जाते हैं। कुबेरनाथ राय अपने निबंधों के ज़रिये पाठकों को मानवीय मूल्यों के महत्व से अवगत कराने की कोशिश करते हैं। साथ ही साथ मानवीय मूल्यों के ह्रास की विभिन्न दिशाओं का चित्रण करते हुए उन्हें बचाए रखने की प्रेरणा भी देते हैं।

संदर्भ :-

1. राय, कुबेरनाथ. (1998). *वाणी का क्षीरसागर*. वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन. पृ. 102
2. राय, कुबेरनाथ. (1986). *त्रेता का बृहत्साम*. नई दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग हाउस. पृ. 167
3. राय, कुबेरनाथ. (1993). *उत्तरकुरु*. नई दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग हाउस. पृ.106
4. राय, कुबेरनाथ. (1969). *प्रिया नीलकंठी*. नई दिल्ली: ज्ञानपीठ प्रकाशन. पृ.10
5. राय, कुबेरनाथ. (1980). *पत्र मणिपुतुल के नाम*. नई दिल्ली: गाँधी शांति प्रतिष्ठान. पृ. 28
6. राय, कुबेरनाथ. (1980). *पत्र मणिपुतुल के नाम*. नई दिल्ली: गाँधी शांति प्रतिष्ठान. पृ. 53
7. राय, कुबेरनाथ. (1969). *प्रिया नीलकंठी*. नई दिल्ली: ज्ञानपीठ प्रकाशन. पृ.103

बौद्ध दर्शन में प्रतिबिम्बित शैक्षिक दर्शन की समसामयिक उपयोगिता

डॉ. राकेश उपाध्याय*

sribhavanand@gmail.com

शिक्षा (शिक्ष्+टाप्) शब्द का अभिप्राय है सीखना, अध्ययन करना, ज्ञानार्जन करना, किसी विषय में निष्णात होने की इच्छा आदि। छः वेदांगों में एक नाम शिक्षा है।[1] मूलतः सीखने की प्रक्रिया मानव में प्रगति शक्ति का विकास करती है। शिक्षा बालक को संस्कार युक्त बनाकर उसे सामाजिक बनाती है।[2] शिक्षा अन्तश्चेतना और अन्तर्योग्यता का परिष्कार कर उसे संवर्धित करती है जिससे व्यक्ति में 'गुणों' का विकास होता है। शिक्षा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, वह जन्म से लेकर मृत्यु तक चलने वाली सतत प्रक्रिया है। शिक्षा प्राप्ति के क्षेत्र भी अगणित है। पाठशालाओं से तो औपचारिक शिक्षा मिलती ही है, साथ ही संसार के वातावरण, उपकरणों एवं तत्त्वों से भी शिक्षा मिलती है। हमारे मनीषियों ने मानव जीवन को सुव्यवस्थित करने के लिए अनेक उपयोगी शिक्षाएँ प्रदान की हैं।

भारत में शिक्षा का गौरवपूर्ण इतिहास रहा है। इसी 'शैक्षिक दर्शन' की योग्यता पर उसे 'विश्वगुरु का सम्मान मिला था। 'राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986' भारत की प्राचीन स्वर्णिम शिक्षा-व्यवस्था को नये कलेवर में प्रस्तुत करती है ताकि वह युगानुरुप हो सके। विद्वानों ने भारतीय शिक्षा के इतिहास को अनेक अध्यायों में विभाजित किया है- यथा वैदिक कालीन शिक्षा, उपनिषद् कालीन शिक्षा, महाकाव्यकालीन शिक्षा, सूत्रकालीन शिक्षा, बाह्यकालीन एवं ब्राह्मणकालीन शिक्षा, मुस्लिमकालीन भारतीय शिक्षा[3] आदि।

शिक्षा का प्रधान उद्देश्य अशान्त वातावरण में शान्ति उपस्थित करना भी है। गंभीरता से विचार करें तो व्यक्ति का मानस अनेक कारणों से अशान्त है। समाज अपनी विसंगतियों से अशान्त है। विश्व, विश्वयुद्ध की आशंका से अशान्त है। यह अशान्ति कैसे जाये ? शान्ति एवं समृद्धि का सुराज्य कैसे स्थापित हो ? इस पर विचार करते समय गौतम बुद्ध का स्मरण हो आना स्वाभाविक है। उन्होंने कहा था कि 'मारने वाले से बचाने वाले का अधिकार अधिक है।' संसार दुःखपूर्ण है। दुःख दूर करना हमारा लक्ष्य है। गौतम बुद्ध के दर्शन से प्राप्त शिक्षाओं का प्रभाव है कि जापान, कोरिया, म्यामार (बर्मा) तथा चीन आदि देशों में प्रभूत मात्रा में बौद्ध अनुयायी हैं। बौद्ध दर्शन से प्राप्त शिक्षाओं की सार्वकालिकता के कारण ही बोधिसत्त्व बाबा भीमराव अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया था।

गौतम बुद्ध की शिक्षाओं का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उन्हें भगवान् बुद्ध कहा जाने लगा। बौद्ध दर्शन करुणा और पीड़ा के समापन की बात करता है। सामाजिक समरसता का संसार रचता है। जातिविहीन समाज की कल्पना करता है।

---

* **स. विभागाध्यक्ष हिन्दी, श्री भवानन्द संस्कृत महाविद्यालय पुनर्जी, जहानगंज आजमगढ़, उ.प्र.**

इनका जन्म हिमालय तराई के शाक्य जनपद (लुम्बिनीवन) में 563 ई0पू0 हुआ था। शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु थी। इनके पिता शुद्धोदन शाक्यों के गणमुख्य थे। इनकी माता का नाम माया देवी था। इनका जन्म नाम सिद्धार्थ था। इनका पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा बहुत उच्च कोटि की हुई। बाल्यावस्था से ही ये चिन्तनशील थे, संसार के दुःख से विकल हो उठते थे। जीवन की चार घटनाओं का इनके ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा।

एक बार इन्होंने किसी अत्यन्त वृद्ध व्यक्ति को देखा, जो वृद्धावस्था के कारण झुक गया था और लाठी के सहारे चल रहा था। पूछा कौन ? उत्तर मिला वृद्ध, जो सुन्दर बालक और बलिष्ठ जवान था, किन्तु बुढ़ापे से क्षीण और विकृत हो गया है। इसके पश्चात् एक रुग्ण व्यक्ति मिला जो पीड़ा से कराह रहा था। पूछा कौन है ? उत्तर मिला रोगी, जो कुछ ही क्षण पहले स्वस्थ और सुखी था। तदनन्तर सिद्धार्थ ने मृतक को अर्थी पर लाते हुए देखा। पूछा कौन ? उत्तर मिला मृतक, जो कुछ समय पहले जीवित और विलास में मग्न था। अन्त में उन्हें एक गैरिक वस्त्र धारण किये हुए पुरुष मिला, जिसके चेहरे पर प्रसन्नता झलक रही थी और चिन्ता का सर्वथा अभाव था। पूछा कौन है ? उत्तर मिला संन्यासी, जो संसार के सभी बन्धनों को छोड़कर परिव्राजक हो गया है। त्याग और संन्यास की भावना सिद्धार्थ के मन पर अपना प्रभाव गहराई तक डाल गयी।

शुद्धोदन ने सिद्धार्थ का विवाह रामजनपद (कोलिया गण) की राजकुमारी यशोधरा के साथ कर दिया। उनको पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, उनका नाम राहुल रखकर उन्होंने कहा, 'जीवनशृंखला की एक कड़ी आज और गढ़ी गयी।'

मध्य मार्ग की शिक्षा

कहा गया है कि किसी भी वस्तु की अति ठीक नहीं है। एक दिन रात को यशोधरा और राहुल को छोड़कर सिद्धार्थ कपिलवस्तु से बाहर निकल गये। इस घटना को 'महाभिनिष्क्रमण' कहते हैं। ज्ञान और शान्ति की खोज में सिद्धार्थ बहुत से विद्धानों और पण्डितों से मिले किन्तु उनको सन्तोष नहीं हुआ। आश्रमों, तपोवनों में घूमते हुए वे गया के पास उरुबेल नामक वन में जाकर घोर तपस्या करने लगे और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि या तो ज्ञान प्राप्त करूँगा, नहीं तो शरीर का त्याग कर दूँगा। छः वर्ष की कठिन तपस्या के पश्चात् उन्हें अनुभव हुआ कि शरीर को कष्ट देने से शरीर के साथ बुद्धि भी क्षीण हो गयी और ज्ञान और दूर हट गया। अतः निश्चय किया कि मध्यम मार्ग का अनुसरण करना ही उचित है। मध्यम मार्ग की शिक्षा जीवन में शांति लायेगी।

सबको सुखी करने की शिक्षा

एक दिन बोधिवृक्ष के नीचे बैठकर जब वे चिन्तन कर रहे थे, तब उन्हें जीवन और संसार के सम्बन्ध में सम्यक् ज्ञान प्राप्त हुआ। इस घटना को 'सम्बोधि' कहते हैं। इसी समय से सिद्धार्थ बुद्ध (जिसकी बुद्धि जागृत हो गयी हो) कहलाये। अन्त में उन्होंने निश्चय किया कि मैं अपने ज्ञान को दुःखी संसार तक पहुँचाकर उसे मुक्त

करूँगा। बोधगया से चलकर वे काशी के पास ऋषिपत्तन मृगदाव (सारनाथ) में पहुँचे। यहाँ पर उन्होंने पंचवर्गीय पूर्व शिष्यों को अपने धर्म का उपदेश प्रथम बार दिया। इस घटना को 'धर्मचक्रप्रवर्तन' कहते हैं। इस कृत्य से यह शिक्षा मिलती है कि व्यक्ति को अपने ज्ञान को जनता के लाभ के लिए प्रयोग करना चाहिए।

अतियों के त्याग की शिक्षा

बुद्ध ने अपने उपदेश में कहा, ''दो अतियों का त्याग करना चाहिए। एक तो विलास का, जो मनुष्य को पशु बना देता है और दूसरे कायक्लेश का, जिससे बुद्धि क्षीण हो जाती है। मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।''

चार आर्य सत्य

इसके पश्चात् उन्होंने उन चार आर्य सत्यों का उपदेश दिया, जिनको 'चत्वारि आर्य सत्यानि' कहते हैं। उन्होंने कहा, ''दुःख प्रथम सत्य है। जन्म दुःख है। जरा दुःख है। रोग दुःख है। मृत्यु दुःख है। प्रिय का वियोग दुःख है। अप्रिय का संयोग दुःख है आदि। समुदाय दूसरा सत्य है। दुःख का कारण है तृष्णा। तृष्णा और वासना से दुःख उत्पन्न होते हैं। निरोध तीसरा सत्य है। समुदय अर्थात् दुःख के कारण तृष्णा का निरोध हो सकता है। जो स्थिति कारण से उत्पन्न होती है उसके कारण को हटाने से वह समाप्त हो जाती है। निरोध का ही नाम निर्वाण अर्थात् सम्पूर्ण वासना का क्षय है। निरोधगामिनी प्रतिपदा चौथा सत्य है। अर्थात् निरोध प्राप्त कराने वाला एक मार्ग है। वह है अष्टांग मार्ग अथवा मध्यमा प्रतिपदा।'' बौद्धदर्शन चार आर्य सत्यों के माध्यम से संयम एवं नियमन की शिक्षा देता है जिससे शान्ति कायम हो सकती है।

मंगल परक शिक्षा

महात्मा बुद्ध प्रथम धर्मप्रवर्तक थे, जिन्होंने धर्म प्रचार के लिए संघ का संघटन किया। सारनाथ में प्रथम संघ बना। बुद्ध ने आदेश दिया, ''भिक्षुओं! बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, देव, मनुष्य और सभी प्राणियों के हित के लिए उस धर्म का प्रचार करो जो आदि मंगल है, मध्य मंगल है और अन्त मंगल है।'' अस्सी वर्ष की अवस्था तक अपने धर्म का विभिन्न प्रदेशों में प्रचार करते हुए कुशीनगर में वे दो शालवृक्षों के बीच अपनी जीवनलीला समाप्त कर निर्वाण को प्राप्त हो गये। इस घटना को 'महापरिनिर्वाण' कहते हैं। यद्यपि बुद्धदेव निरीश्वरवादी थे और वेदों के प्रामाण्य में विश्वास नहीं करते थे, पर उनके व्यक्तित्व का नैतिक प्रभाव भारतीय इतिहास पर दूरव्यापी पड़ा। जीव दया और करुणा को वे सजीव मूर्ति थे। आस्तिक परम्परावादी हिन्दुओं ने उनको विष्णु का लोकसंग्रही अवतार माना और भगवान के रूप में उनकी पूजा की। पुराणों में जो अवतारों की सूचियाँ हैं उनमें बुद्ध भगवान् की गणना है। वर्तमान हिन्दू धर्म बुद्ध के सिद्धान्तों से प्रभावित है।

हिन्दू पुराणों में बुद्ध भगवान् की कथा अन्य प्रकार से दी हुई है।[4] बौद्धदर्शन की शिक्षाओं से स्वस्थ मानवता का विकास होगा। स्वार्थपरता का विनाश होगा। सभी सुखी, स्वस्थ रहें, पूरा विश्व एक परिवार है की

भारतीय परम्परागत भावना प्रायोगिक स्तर पर बलवती होगी। बौद्धदर्शन का अष्टांग मार्ग दार्शनिक/शैक्षिक ही नहीं है बल्कि उसमें जीवन की यथार्थता का भी सम्मिश्रण है। यदि इन अंगों की मीमांसा करें तो स्वस्थ जीवन शैली का विकास होगा। शान्ति एवं सद्भावना परिपुष्ट होगी।

1. सम्यक् दृष्टि (जीवन में यथार्थ दृष्टिकोण) इससे विवेक विकसित होता है।
2. सम्यक् संकल्प (यथार्थ दृष्टिकोण से यथार्थ विचार) इससे मानव की संकल्पना में शुभता का विकास होता है जो विश्वकल्याण का आधार है।
3. सम्यक् वाचा (यथार्थ विचार से यथार्थ वचन) इससे विचारों में पवित्रता-निष्पक्षता आती है।
4. सम्यक् कर्मान्त (यथार्थ वचन से यथार्थ कर्म) इससे ऐसा कर्म करते हैं जो लोक हितकारी होता है।
5. सम्यक् आजीव (यथार्थ कर्म से उचित जीविका) सत्कर्म से उचित जीविका प्राप्त करने पर शान्ति मिलती है।
6. सम्यक् व्यायाम (उचित जीविका के लिए उचित प्रयत्न) इससे कर्मयोग को बढ़ावा मिलता है। उचित जीविका के लिए उचित प्रयत्न को बल मिलता है।
7. सम्यक् स्मृति (उचित प्रयत्न से उचित स्मृति) इससे सत् प्रयत्न से स्मृति-शक्ति संवर्धित होती है।
8. सम्यक् समाधि (सम्यक् स्मृति से सम्यक् जीवन का संतुलन) इससे जीवन-यात्रा सफलतापूर्ण संचालित होती है।

बुद्ध ने 'दस शीलों' का भी उपदेश दिया, जिनमें दसों तो भिक्षुओं के लिए अनिवार्य है और उनमें से प्रथम पाँच गृहस्थों के लिए अनिवार्य है। इस शीलों की गणना इस प्रकार है-

1. जीव हिंसा का त्याग, यह पर्यावरण प्रदूषण निवारण के लिए आवश्यक है।
2. अस्तेय (अदत्त वस्तु को ग्रहण न करना) यह मानसिक पवित्रता और सत्कर्म की भावना का द्योतक है।
3. ब्रह्मचर्य (मैथुनत्याग) इन्द्रिय संयम बल बुद्धिवर्धक होता ही है।
4. सत्य (झूठ का त्याग) सत्य ही ईश्वर है अतएवं उसका साथ कभी नहीं छोड़ना चाहिए।
5. मादक वस्तु का त्याग, मादक वस्तुएँ मानव जीवन को नर्क बना देती हैं, इनसे बचना चाहिए।
6. असमय भोजन का त्याग, असमय भोजन शरीर तथा मस्तिष्क दोनों के लिए क्षयकारी होता है।
7. अभिनय, नृत्य, ज्ञान आदि का त्याग, इससे ध्यान धारणा समाधि में बाधा पड़ती है। इन्हें छोड़ देना ही ठीक है।
8. माल्य, सुगन्ध, अंगराग आदि का त्याग, ये सब समय की बरबादी तथा विलासिता के प्रतीक हैं। इन्हें त्यागना ही उचित है।
9. कोमल शय्या का त्याग, कोमल शय्या के प्रयोग से शारीरिक रोग पैदा होते हैं।
10. सुवर्ण और रजत के परिग्रह का त्याग। ये सब संसार में बंधन के कारण है। इन्हें छोड़ना ही उचित है।

उक्त तथ्यों में बौद्धदर्शन की शैक्षिक मान्यताओं का स्पष्टतः दर्शन किया जा सकता है। बौद्धदर्शन की शिक्षा है, त्याग श्रेयस्कर है, भोग अश्रेयस्कर। आदि आदि। बौद्ध तत्त्वज्ञान मानव जीवन के सुखद, शुभद एवं शान्तिप्रद जीवन व्यवस्था का सूत्रवाहक है। बौद्ध प्रार्थना में वे सारे शैक्षिक तत्त्व समाहित हैं जिनसे हमें स्वस्थ व्यक्तित्व के विकास की शिक्षा मिलती है। बौद्ध प्रार्थना में कहा गया है कि- जो बुद्ध, धर्म और संघ की शरण गया, जो इन चारों आर्य-सत्यों को प्रजा से भली-भाँति देखता है कि संसार दुःखमय है, दुःखों का कारण है, दुःखों का निरोध है और दुःखों का नाशक आर्य अष्टांगमार्ग है, उसके लिए निश्चय ही यह मंगलमय शरण है, उत्तम शरण है और इस शरण को पाकर मनुष्य सारे दुःखों से छूट जाता है।[6]

बौद्ध-भिक्षु की प्रार्थना से आत्मसंयम की शिक्षा मिलती है। बौद्ध-भिक्षु प्रार्थना करता है कि- पूर्ण प्रज्ञ, अर्हन्, भगवान बुद्ध को नमस्कार है। पूर्ण प्रज्ञ, अर्हन्, भगवान बुद्ध को नमस्कार है। पूर्ण प्रज्ञ, अर्हन्, भगवान बुद्ध को नमस्कार है। मैं बुद्ध की शरण में जाता हूँ, धर्म की शरण में जाता हूँ, भिक्षु-संघ की शरण में जाता हूँ। द्वितीय बार मैं बुद्ध की शरण में जाता हूँ, धर्म की शरण में जाता हूँ, संघ की शरण में जाता हूँ। तीसरी बार मैं बुद्ध की शरण में जाता हूँ, धर्म की शरण में जाता हूँ, संघ की शरण में जाता हूँ। मैं जीव की हिंसा न करने की प्रतिज्ञा करता हूँ। मैं उस वस्तु के न लेने की प्रतिज्ञा करता हूँ, जो मुझे न दी गयी हो। भोगों में मिथ्याचारण न करने की मैं प्रतिज्ञा करता हूँ। असत्य वचन से बचने की मैं प्रतिज्ञा करता हूँ। मैं सुरा-मद्यादि मादक वस्तुओं से बचने की प्रतिज्ञा करता हूँ।

यदि बौद्ध दर्शन में प्रतिबिम्बित उक्त शिक्षाओं का परिपालन किया जाय तो व्यक्ति एवं समाज में शान्ति मूलक प्रगति की भावना बलवती होगी, जिसकी समसामयिक उपयोगिता स्वतः सिद्ध है।

संदर्भ :-

1. आप्टे वी.एस. संस्कृत हिन्दी शब्दकोश।
2. त्यागी गुरसरनदास, ज्ञान एवं पाठ्यक्रम पृ0-14
3. चौबे प्रो0 सरयू प्रसाद, चौबे डॉ0 अखिलेश, भारत की आधुनिक शिक्षा का इतिहास, विषय सूची द्रष्टव्य।
4. पाण्डेय डॉ0 राजबली, हिन्दू धर्मकोश।
5. अति का भला न बरसना, अति की भली न धूप।
   अति का भला न बोलना, अति की भली न चूप।। परम्परागत।
6. योच बुद्धंच धम्मंच संघंच सरणं गतो।

   चत्तारि अरियसच्चानि सम्मप्पञ्ञाजाय पस्सति।।

दुक्खं दुक्खसमुप्पादं दुक्खस्स च अतिक्कमं।

अरियंचट्ठंगिकं मग्गं दुक्खूपसमगामिनं।।

एवं खोसरणं खेमं एतं सरणमुत्तमं।

एवं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति।। पालि-धम्मपद(14।12-14)

7. नमो तस्य भगवतो अरहतो सम्मासबुद्धस्स।

नमो तस्य भगवतो अरहतो सम्मासबुद्धस्स।

नमो तस्य भगवतो अरहतो सम्मासबुद्धस्स।

बुद्धं सरणं गच्छामि। धम्मं सरणं गच्छामि।

दुतियम्पि बुद्धं सरणं गच्छामि।

दुतियम्पि धम्मं सरणं गच्छामि।

दुतियम्पि संघं सरणं गच्छामि।

तृतीयम्पि बुद्धं सरणं गच्छामि।

तृतीयम्पि धम्मं सरणं गच्छामि।

तृतीयम्पि संघं सरणं गच्छामि।

पाणातिपाता बेरमणी सिक्खापदम् समादियामि।

अदिन्नादाना बेरमणी सिक्खापदम् समादियामि।

कामेसु मिच्छाचारा बेरमणी सिक्खापदम् समादियामि।

मुसावादा बेरमणी सिक्खापदम् समादियामि।

सुरा-मेरय-मज्जापमादट्ठा ना बेरमणी सिक्खापदम् समादियामि।। रचनाकार अज्ञात।

हिन्दी की जातीय परम्परा; सॉनेट और त्रिलोचन

डॉ. वीना सुमन*

drveenasuman@gmail.com

आधुनिक हिन्दी काव्य में त्रिलोचन का नाम एक विजातीय छन्द 'सॉनेट' से जुड़ा है। त्रिलोचन अपने सॉनेटों में हिन्दी साहित्य की जातीय परम्परा को स्वीकार करते हैं। इसी संदर्भ में दिगन्त में उन्होंने कबीर, तुलसी, गालिब और निराला को साहित्य की जातीय परम्परा के अन्तर्गत याद किया है।

ऐसे कवि त्रिलोचन का जातीय मन एकाएक एक विजातीय छन्द की ओर क्यों आकृष्ट हुआ यह एक विचारणीय प्रश्न है।

राधावल्लभ त्रिपाठी से अपने एक साक्षात्कार में त्रिलोचन ने स्वीकार किया कि- "शैशव में तेरह वर्ष की आयु में मुझे सैकड़ों लोकगीत याद थे और वैसे ही गीत मैं भी रच देता था।"[1] लोकगीतों की शैली पर रचे गये उन्हीं गीतों ने त्रिलोचन को भारतीयता का संस्कार दिया। लोकगीतों में डूबकर त्रिलोचन कभी बनारस के जनपद का लोकछंद 'कहरवा' डूबकर गाया करते थे। उन्होंने लोकछन्दों की संभावना को क्यों नहीं खँगाला ?

लोकगीतों की अनुकृति के पक्ष में हामी भरते हुए उन्होंने एक प्रश्न के उत्तर में कहा था- "लोकगीतों की अनुकृति ही थी। लेकिन लोकगीतों से भिन्नता भी आयी। यही भिन्नता मुझे मौलिक कर गयी। अगर आप किसी का अनुकरण नहीं कर पा रहें हैं तो आपकी यही असमर्थता आपका व्यक्तित्व बन जायेगी। आप स्वतंत्र शैली के प्रवर्तक बन जायेंगे अनजाने।"[2] शायद सॉनेट की तरफ आकृष्ट होने का एक पक्ष यह भी रहा हो।

प्रमोद द्विवेदी को त्रिलोचन पर दिये गये अपने एक साक्षात्कार में शिव मंगल सिंह सुमन का मानना है कि- "शायद स्वतंत्र शैली में प्रयोग की ललक उन्हें सॉनेट के निकट ले गयी होगी वह प्रयोग का युग था। प्रयोग के लिए तब बड़ा आग्रह तो था ही प्रयोग को भी एक बाद की शक्ल उन्हीं दिनों दिखा दी जा रही थी। तार सप्तक के कवि भी सॉनेट लिख रहे थे।अन्य कारणों में से शायद यह भी एक कारण रहा होगा। जब की निराला लोक छंद की क्षमता से परिचित थे और उन्होंने इसका प्रयोग भी किया था।"[3] शायद एक पक्ष यह भी रहा हो।

कवि मंगलेश डबराल के प्रश्न, सॉनेट जैसे छोटे से फार्म को अपनाने की प्रेरणा कहाँ से पाई, के जवाब में त्रिलोचन विस्तार से बताते हैं कि- "एक हुआ है बेन जॉनसन। 1621, एक जीवित रहा। पैदा हुआ था 1573 में। यानी शेक्सपीयर से 9 साल छोटा था। वह ग्रीक और लैटिन का भी मास्टर था। पर अधिकार होना और आनंद लेना इसमें अंतर होता है। अधिकार उनका माना जायेगा जो चमत्कारिक भाषण करते हैं और समय

*असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग आर्य महिला पी. जी. कॉलेज, चेतगंज, वाराणसी
(संबद्ध काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)

और संस्कार लेने की जिनमें क्षमता है। हो सकता है कि वह बोल न पायें। पर उससे ज्यादा टिकाऊ संस्कार लेने वाला होगा। अपने युग में कोई बड़ा कवि नहीं मालूम होता है कि बड़ा है। सड़क पर चलते हुए लोगों में बड़े से बड़ा आदमी भी अपरिचेय रहता है। ऐसे ही रचना में कौन बड़ा है। इसका फैसला तो उसके बाद के हर दशक में होता रहता है। चर्चा करने वाले अगर बढ़ रहे हैं तो लोकप्रियत्व साबित होता है और समझदार अगर उस पर और काम कर रहे हैं तो इसका मतलब रचनात्मक क्षमता उसमें है।

तो बेन जॉनसन के यहाँ 'टेबल टाक' होती थी। पब में टेबल टाक कर रहे हैं और पीने का आर्डर दे रहे हैं। साहित्यकार उन दिनों वहाँ भी इसी तरह तबाह थे जैसे हमारे यहाँ आज है। तो साहित्यकार के कुछ भक्त होते थे जो टेबल टाक को लिखा करते थे। कई किताबें हैं इस टेबल टाक की। तो जॉनसन से किसी ने पूछा कि सॉनेट पर क्या विचार हैं आपके ? उसने ग्रीक लीजेन्ड से एक नाम लिया और कहा कि यह प्रोप्रेस्तेत एक राक्षस था जो एक बिछौना और एक कुल्हाड़ी लिये घूमा करता था और जो भी चलता-फिरता नजर आये। वह हाथ जोड़कर कहता था बैठ जाइए, आराम कीजिए। अगर कोई बैठ गया तो फिर प्रार्थना करता था कि आप लेट जाइए और लेटने में उससे शरीर का जो हिस्सा निकलता था उसे कुल्हाड़ी से काट देता था और खा जाता था। यानी अगर सॉनेट में कविता का पाँव बढ़ रहा है तो पाँव काट देंगे। सर बढ़ रहा है तो सर काट देंगे। सॉनेट पर जब व्यंग्य हुए तो शेक्सपीयर ने इसका जवाब दिया- "रिब्यूक नॉट सॉनेट" उसने कहा यह हमारी वह कोठरी है जिसमें हम साधना करते है।"[4]

उपर्युक्त तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि त्रिलोचन की अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए सॉनेट से ज्यादा उपयुक्त और कोई छन्द हो ही नहीं सकता।

त्रिलोचन को सॉनेट की ओर आकर्षित होने के पक्ष पर विचार करते हुए राजेश जोशी आलोचना के 56-57 अंक में लिखते हैं कि- "यथार्थवादी शैली और बातचीत वाली भाषा ने त्रिलोचन की कविता को एक और महत्वपूर्ण आयाम दिया है। कविता में छोटी छोटी कहानी कहने का (सॉनेट) एक संश्लिष्ट और थोड़ा काव्य रूप है। लय की गति का धीमा होना सॉनेट का खास गुण है। अन्य छोटे गीतों से वह इस मामले में भिन्न है। गंभीरता, विचारशील भाव, अनुभूति की गहन एकाग्रता और कसी हुई भाषा के साथ ही चौदह पंक्तियों का अनुशासन, ये सारी बातें जो एक सॉनेट की विशिष्टता है, त्रिलोचन की मनोभूमि के लिए बहुत अनुकूल थी। आवेगों की अभिव्यक्ति का संयमित ढंग और स्वर की तटस्थता वाली अपनी काव्य मानसिकता के कारण ही सॉनेट जैसे ठेठ भारतीय किसानी मन के कवि को आकर्षित किया होगा। अष्टपदी में लय का अनुशासन और षटपदी में लय की स्वतंत्रता के द्वैत ने त्रिलोचन के अपने स्वभाव को लुभाया होगा।

सॉनेट हर वक्त किसी को (खास तौर पर प्रेमिका को) संबोधित करने वाला काव्य रूप रहा है। त्रिलोचन की कविता में भी उद्बोधन और संबोधन अक्सर मौजूद रहे हैं। कविता में बातचीत की कला के ही कारण सॉनेट को अपनाने के ये कुछ मोटे कारण हो सकते हैं।"[5]

त्रिलोचन के अनुसार "सन् 1930-40 में उन्होंने 125 सॉनेट लिखे। अपने पूर्व सॉनेट लिखने वालों के बारे में जानने के लिए नागरी प्रचारिणी सभा की पुरानी फाइलों में चतुर्दशपदी शीर्षक की कविताएं मिली। चतुर्दशपदी शब्द हिंदी में बंगला से आया है। पद माने चरण होता है। चतुर्दशपदी माने चौदह चरण वाली कविता। स्वयं त्रिलोचन के अनुसार भारत का पहला सॉनेट कवि माइकेल मधुसूदन दत्त हैं। दत्त बाबू का देहावसान 1872 में हुआ। दत्त ने सॉनेट इटली और फ्रांस में रहते हुए लिखें हैं। इन्होंने 122 सॉनेट लिखे हैं। मधुसूदन दत्त के अलावा सत्येन्द्रनाथ दत्त नामक कवि ने भी सॉनेट लिखे हैं। स्वयं रवींद्रनाथ ठाकुर ने सॉनेट लिखे हैं। मानुषी उनकी एक प्रसिद्ध कविता है। मानुषी में उन्होंने सॉनेट पर लिखा है- इसकी दो पंक्तियाँ निम्न हैं:

शुधु विधातार सृष्टि ना तुमि नारी

पुरूष गोड़ेछे तोमाय शौंदज्य-संचारी।

इसका अर्थ है कि केवल विधाता की रचना हे नारी ! तुम नहीं हो। पुरुष ने तुम्हारे अंदर सौंदर्य का संचार करके तुम्हारा निर्माण किया। तुम्हारे लिए समुद्र में डूबकर लोगों ने मुक्ता प्राप्त की और प्रवाल तमाम चीजों से तुम्हारे अंग-प्रत्यंग को सजाया।"[6]

वैसे ही आधुनिक हिंदी साहित्य को शुरू से ही शेक्सपीयर आकर्षित कर रहे थे। भारतेंदु ने मर्चेंट ऑफ वेनिस का अनुवाद किया था। यह वह दौर था जब भारत और पश्चिम साहित्य में परस्पर अंतर्क्रिया कर रहे थे। कहानी उपन्यास पश्चिम की संरचना को लेकर ही आगे बढ़ रहे थें। ऐसे में हिन्दी कविता की महान छंद परंपरा होने के बावजूद हिन्दी कविता ने सॉनेट को भी ग्रहण किया अपने अनुकूल बनाया। हिन्दी में सॉनेट लेखन की परम्परा के संदर्भ में त्रिलोचन, लोचन प्रसाद पाण्डेय और जयशंकर प्रसाद को श्रेय देते हैं उनके अनुसार "जयशंकर के सॉनेट तीस के करीब होंगे। सॉनेट की धारणा उनके मन में कुल इतनी थी कि चौदह पंक्तियों की कोई भी कविता सॉनेट हो जाती है। लोचन प्रसाद पाण्डेय की अवधारणा ठीक थी यह कहना संभव नहीं है। उनके सॉनेट पढ़ने पर लगता है कि सॉनेट का जो आंतरिक गठन है, वह पकड़ में नहीं आया उनको। यद्यपि लोचन प्रसाद पाण्डेय ओड़िया में भी कवि थे। बंगाल बहुत अच्छी जानते थे। नरेन्द्र शर्मा ने लिखा है कि बच्चन ने तो अनुवाद किया है। सॉनेट में। सॉनेट का फार्म बच्चन ने भी दिया हालांकि कमांड नहीं है। इसके बाद बिहार के एक कवि थे, गुलाब खण्डेलवाल, उन्होंने सॉनेट लिखे हैं। सॉनेट की दो तीन किताबें छपीं हैं उनकी। इन लोगों का फार्म पर पूरा अधिकार नहीं है। अब यह है कि गीत कह रहे हैं जो चौदह लाइन में पूरा हो रहा है। कुछ लोगों ने अनुप्रासों की जो बंदिश थी वह मान ली। सन् 1939 में आकर निराला ने भी सॉनेट लिखे उसके पहले नहीं, निराला के सॉनेट संख्या में ज्यादा नहीं हैं। तब भी सोलह से तो ज्यादा होंगे। वे 'नए पत्ते' में आ गए हैं 'अणिमा' में भी हैं।"[7]

इस प्रकार हम देखते हैं कि त्रिलोचन के पूर्व हिंदी में सॉनेट लिखने की परम्परा मिलती है। लेकिन त्रिलोचन सॉनेट को जो गरिमा प्रदान की वह अन्यत्र नहीं मिलती। त्रिलोचन ने सॉनेट में विजातीय रूप विधान

को स्वीकार किया है लेकिन उन्होंने सॉनेट में रोला छंद का प्रयोग करके उसे हिन्दी के जातीय स्वरूप से जोड़ा। स्वयं त्रिलोचन के अनुसार- "हमारे यहाँ जो नेशनल है वो रोला है। रोला को पहले चंद के समय में काव्य छंद कहते थे। काव्य छंद माने कविता का छंद। तो इस रोला में को मैंने माना कि हमारे नेशनल मीटर के अनुकूल है। अतः हिंदी का छंद रोला ले लिया।"[8] लेकिन राजेश जोशी के अनुसार- "त्रिलोचन जी रोला को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं कर लेते हैं। रोला के अनुसार न केवल सॉनेट का एक और अनुशासन वह कायम करते हैं बल्कि उसके मात्रिक अनुशासन और आंतरिक लय को बरकरार रखते हुए भी उसकी पारम्परिक सहज गेयता को वह एक तरह से भंग कर देते हैं या दुरूह बना देते हैं हो सकता है कि वह किसी शास्त्रीय बंदिश में गाया जा सके लेकिन रोला की सहज धुन में तो उसे गाया नहीं जा सकता है।"[9]

यह तो स्पष्ट है कि रोला हिन्दी का अत्यंत गेय छंद रहा है लेकिन इस छंद में तो सहज धुन होती है वह त्रिलोचन के सॉनेट में नहीं मिलती है। इसका क्या कारण हो सकता है इस पर विचार करते हुए राजेश जोशी आगे लिखते हैं कि- "त्रिलोचन वाक्य बड़ा बनाते हैं जो सॉनेट की दूसरी पंक्ति के आधे में जाकर और कभी-कभी तीन पंक्तियों में समाप्त होता है। इस तरह छंद के अनुशासन में पंक्तियाँ तो रहती हैं लेकिन वाक्य उस अनुशासन में नहीं होते। इससे रोला की सरल गेयता काफी हद तक गद्यात्मक लय के नजदीक पहुँच जाती है। रोला छंद का यह बचाव त्रिलोचन की अपनी अलग पहचान बनाता है। यह छंद से मुक्ति के बजाय छंद की ही मुक्ति का एक प्रयास है। यहाँ मुक्ति और अनुशासन के बीच का द्वन्द्वात्मक रिश्ता उजागर होता है। साथ ही कथ्य और रूप के रिश्तों पर त्रिलोचन का दृष्टिकोण भी। इसी तरह वह अपनी कविता की वस्तु को ही छन्द में ढालने का काम-नहीं करते बल्कि इसके विपरीत वह छंद को भी अपनी मनोभूमि और वस्तु के अनुरूप ढालते या कहे बदलने का काम करते हैं।"[10]

इस प्रकार यह कहना अत्युक्तिपूर्ण या अनुचित नहीं है कि त्रिलोचन ने रोला को हिंदी में उसकी शक्ति का उद्घाटन करके अन्य कवियों से कहीं ज्यादा उसे हिंदी कविता में स्थापित कर दिया। इसके साथ ही लय की विविधता की सृष्टि से आधुनिक हिंदी कवियों का ध्यान नये सिर से उसकी ओर खींचा है।

त्रिलोचन का दिगंत काव्य संग्रह केवल उनका ही नहीं बल्कि वर्तमान हिंदी कविता की एक बड़ी उपलब्धि है। इस संग्रह के अनेक सॉनेट अच्छे से अच्छे संग्रह में स्थान पास सकते हैं। इन कविताओं में जीवन की मार्मिक अनुभूतियों के साथ-साथ ऐसा क्लासिक निखार है जो आधुनिक कवियों में कम ही मिलता है।

'दिगंत' काव्य संग्रह की पहली कविता का शीर्षक 'सॉनेट का पथ' त्रिलोचन इसे सॉनेट की भूमिका के रूप में स्वीकार करते हैं। अंग्रेजी कवियों के अध्ययन से त्रिलोचन ने सॉनेट के रूप की विशेषताओं को पहचाना और उसकी शक्ति और सीमाओं का ज्ञान प्राप्त किया। 'सॉनेट का पथ' शीर्षक कविता में उन्होंने सॉनेट के विषय में लिखा है-

'इस सॉनेट का रास्ता चौड़ा
अधिक नहीं है। कसे कसाये भाव अनूठे
ऐसे आयें जैसे किला आगरा में जो
नग है, दिखलाया है पूरे ताजमहल को

त्रिलोचन के सॉनेट इसी आदर्श को सामने रखकर लिखे गए हैं और इसमें उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली है। यूँ तो त्रिलोचन ने गेय रहे, एकान्विति हो कहकर सॉनेट में 'गेय तत्व' का उल्लेख किया है। लेकिन सॉनेट में तरल संगीत की गुंजाइश नहीं होती है। त्रिलोचन के साहित्य में मधुरता तो है लेकिन उसमें स्निग्धता और कोमलता की अपेक्षा उसमें चिंतन की दृढ और कठोर स्नायु अधिक दिखाई पड़ते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि रोला हिंदी का अत्यंत गेय छंद रहा है लेकिन त्रिलोचन उसमें भाव की इकाईयों को एक एक पंक्ति से दूसरी पंक्ति में खींचकर (कभी-कभी तीसरी पंक्ति में भी खींचकर) संगीत की समानांतर इकाईयों की जगह यतियों की विविधता द्वारा सौंदर्य पैदा करते हैं। इस तरह कवि तर्कों के बंधन में रहकर भी अंग्रेजी के अतुकांत काव्य के संगीत अनुच्छेद (verse paragraphy) की सृष्टि कर सका है।

'नयावर्ष' सॉनेट से उद्धृत की गयी पंक्तियों में इस सौंदर्य को देखा जा सकता है। पंक्तियाँ लहरों सी उठती-गिरती बनती-टूटती अत्यंत उद्दात्त लय की सृष्टि करती हैं। उदाहरणस्वरूप इन पंक्तियों को देखा जा सकता है-

"नया वर्षा आया है, माथे पर होली की
भस्म लगाये, अंगों में बहार में रंगो की
छाई है। अमराई में नूतन ढंगों की
सिंदूरी केसरिया मंजरियाँ टोली की
छटा बढ़ाती है, बहार पिक की बोली की
सभी कान वालों के पग में नव भंगों की
बेड़ी अलख डाल जाती है। इन संगों की
स्मृति उतनी सुधकर है जितनी हमजोली की।"[11]

त्रिलोचन में सॉनेट का संगीत बांसुरी या जल तरंग का संगीत नहीं बल्कि वीणा का है जिसके माधुर्य में भी ओज भरी टंकार है जिसमें स्वरों की गूँजें एक दूसरे से टकराकर और फिर एक होकर वितान सी तन जाती है। त्रिलोचन के सॉनेट पर प्रखर आलोचक रामविलास शर्मा की टिप्पणी है कि- "त्रिलोचन के लिए सॉनेट ऐसा कुर्ता है जो हर मौसम में पहना जा सकता है। हर विषय के लिए उसका उपयोग किया जा सकता है।"[12] सॉनेट में त्रिलोचन ने भिन्न भिन्न विषयों पर लिखा है केवल प्रेम पर ही नहीं। दिगंत के सॉनेट पर हरि नारायण व्यास का

विचार है कि- "दिगन्त की कविताएं इसलिए महत्वपूर्ण नहीं है कि उनको कवि ने तथाकथित एक अंग्रेजी छन्द सॉनेट में लिखा है बल्कि वे इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि उसमें कवि की अभिव्यक्ति बिना बौद्धिकता के मुलम्में के ही खरा सोना बनकर चमक उठी है।"[13] दिगन्त के सॉनेट में त्रिलोचन की प्रयोगशाला काफी खरी उतरी है। दिगन्त के सॉनेट हिन्दी में लिखे जाने वाले अन्य सॉनेट की अपेक्षा अधिक सफल हैं। त्रिलोचन ने अपनी भाषा में भावों को ढाला है, भावों को भाषा पर हावी नहीं होने दिया है। यही कारण है कि हिन्दी में सॉनेट और त्रिलोचन एक दूसरे के पर्याय बन गए हैं।

संदर्भ :-

1. साक्षात्कार-सं.आग्नेय, अंक-अक्तूबर-दिसम्बर, 1987, पृ. 53
2. सापेक्ष, अंक-38, सं. महावीर अग्रवाल, पृ. 100
3. सापेक्ष, अंक-38, सं. महावीर अग्रवाल, पृ. 100
4. डबराल, मंगलेश. *लेखक की रोटी*. नयी दिल्ली : आधार प्रकाशन. पृ. 88-89.
5. प्रसाद, गोविन्द. (सं.). (1994). *त्रिलोचन के बारे में*. नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. 195
6. द्विवेदी, कमलकांत. & रमेश, दिविक. (1990). *साक्षात् त्रिलोचन*. नयी दिल्ली : सिद्धार्थ पब्लिकेशन. पृ. 27-28
7. साक्षात्कार- त्रिलोचन शास्त्री से राधा वल्लभ की बातचीत, अंक-अक्तूबर-दिसम्बर, 1987
8. प्रसाद, गोविन्द. (सं.). (1994). *त्रिलोचन के बारे में*. नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. 198
9. प्रसाद, गोविन्द. (सं.). (1994). *त्रिलोचन के बारे में*. नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. 198
10. प्रसाद, गोविन्द. (सं.). (1994). *त्रिलोचन के बारे में*. नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. 199
11. दिगन्त- सं. त्रिलोचन. जगत शंखधर, वाराणसी, 1957, पृ. 7
12. दिगन्त- सं. त्रिलोचन. जगत शंखधर, वाराणसी, 1957, पृ. 38,
13. शर्मा, रामविलास. (1990). *रूपतरंग और प्रगतिशील कविता की वैचारिक पृष्ठभूमि*. नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. 286
14. व्यास, हरिनारायण. (1994). एक सुसम्बद्ध परम्परा का विकास. *त्रिलोचन के बारे में*. नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. 215

A COMMUNICATION AND CULTURAL APPROACH TO ADDRESS WATER CRISIS

Dr. Sudarshan Yadav*

sudarshanbhu@gmail.com

ABSTRACT

Till now the whole issue of water crisis is being either addressed from the policy implementation perspective or individual/ institutional activism but not much consideration is given to the socio-economic and cultural perspective. India is a cultural land where diverse cultures, ethnicities and social identities exist. Water being the most important basic element of life on earth is also a cultural object gaining prominence in our day to day lives as well as in many ritualistic traditions across all religion/cultures starting from birth to death. India being a melting pot of many religions, cultural traditions, caste, creed, and ethnicities gives an immense opportunity to study the phenomenon of water crisis from the perspective of cultural object and from the academic point of ethnography. Ancient cities and civilizations have thrived in the regions where there was abundance of water. Thus, this paper would analyse and discuss different approaches to address the issue of water crisis and what factors from the perspective of culture and communication need to be incorporated to address the same. In doing so, reference to the concept of modern economic development and safeguarding the natural resources within the cultural reference would be considered.

Keywords: Ethnography, Culture Studies, Water Crisis, Water Communication, Risk Communication

A. INTRODUCTION

Water from which the life is said to have originated is the most important resource of the 21st century. It is termed as blue gold considering its less availability and ever growing demand. Seventy five per cent of the earth is submerged in water. Of this, only

* Assistant Professor, Department of Mass Communication, Central University of Jharkhand, Ranchi

2.5 % is in the form of fresh water, rest is in marine form (oceans and seas). Out of 2.5% of the fresh water, only 1.2 % is in the form of rivers and lakes, 30.1% is the ground water and rest is in the form of frozen water (glaciers, and ice caps). (U.S. Geological Survey, 2016) So, about one-third of 2.5% of fresh water is available directly to the population of earth which is very less keeping in view the ever growing population. The limited source of rivers and lakes (only 1 %) are getting polluted day by day with human development, thus leading to greater dependency of population on ground water. India being an agricultural economy, the dependency on ground water is increasing. Due to uneven precipitation and floods, this dependency has increased manifold since independence. Another important aspect of this burgeoning crisis is the fact that by 2025, 1.8 billion people will be living in countries or regions with absolute water scarcity and two-thirds of the world population could live under water stress conditions. (UN Water, 2016) Also the use of water has been growing at more than twice the rate of population increase in the last century. (UN Water, 2016)

A report published in Economic and Political Weekly tells that the share of tube wells in irrigated areas of India arose from a mere 1% in 1960-61 to 40% in 2006-07. Uttar Pradesh is at the second position (about 21%) among the states having most of the tube wells in India. The three states (U.P., Punjab and Haryana) combined account for 57% of the tube wells in India. (Vijay Shankar et al. 2011) Since these states form the backbone of Indian agriculture, this over dependency on ground water is problematic.

These days, emphasis and importance has been laid by the government on recharging ground water. Even international agencies and non-governmental organisations are promoting it. The people are communicated to build recharge pits, dug wells, etc., and to maintain the existing sources of ground water recharge (ponds, pits, kunds, bowli, etc.). In villages, many ponds, pits, nallahs, and tunnels, are present for local use. These sources collect the rain water and recharge the ground water table apart from providing water for daily use. The farms and soil are exposed to direct rains, thus the water seeps-in to recharge the ground water. But due to urbanisation, cutting of trees, pavement of roads, construction of buildings, rain water from houses is directed to sewers and encroachment of ponds by population to build houses have led to less water seepage to

the ground table. The existing water sources are becoming less day by day with the human interventions and encroachments. As Prof. K.N.P. Raju, Department of Geography, Banaras Hindu University has found in his study through remote sensing that many local ponds of Varanasi and other regions of media got encroached by the human population. (K. N. P. Raju, 2010). Infact many religiously and culturally important kunds are also encroached by building cinema hall over Agastya Kund. These ponds along with kunds[†] were connected through channels to the river Ganges, thereby recharging the river and the ground water table of Varanasi.

B. National and International Interventions

Given the alarming situation the governments throughout the world, world organizations like United Nations and other non-government organizations, and some of the prominent figures are drawing our attention on water and environmental degradation. The prominent ones are Intercontinental Panel on Climate Change (IPCC) report about the global climate change and global warming resulting in the receding back Gangotri and other glaciers (IPCC, 2016) in India and UN's declaration of 2005-2015 as International Decade for Action Water for Life. (UN, Water for Life Decade' 2016) Although government of India maintains that the Gangotri glacier is retreating less and melting is at almost standstill. (NDTV, 2016)

Some efforts at the individual level are also worth mentioning. One such is Al Gore's efforts to bring to the fore the issues and after-effects of global warming through well-articulated facts taking into consideration the data over the past millions of years through his film presentations throughout the world compiled together and produced as a documentary film, An Inconvenient Truth. In case of India also people like Baba Amte, Medha Patkar, Rajendra Singh, Anupam Mishra, Chandi Prasad Bhatt, Anna Hazare, Suresh Pachauri and many more are working hard to address and mitigate the problem. They are making people aware about the grave situation and putting efforts through community participation to revive the water bodies. Prominent examples are

[†] Kunds are traditional water sources present in Varanasi city which has some religious importance associated with it; mostly found associated with a temple (a particular deity).

Ralegaon Siddhi, Arvari River revival in Rajasthan and protection of Johad and Kunds. But in the recent years even the same Rajasthan which once revived its water bodies under the auspice of Tarun Bharat Sangh is facing grave situation of water scarcity due to loss of many sources of water.

The Government of India is also in the past few decades, keeping in mind the situation and under the pressure of UN, is coming up with measures to curb the problem. Declaration of the river Ganga as National River and establishing Ganga River Basin Authority and declaring gangetic dolphins as endangered species are such initiatives. Earlier Central Ground Water Board in 1970 was established, (Central Ground Water Board, Government of India, 2016) Jawaharlal Nehru National Urban Renewal Mission (JNNURM) started and Water Policy was adopted for the first time in 1987 followed by its update in 2002, and 2012. Emphasis on establishment of more sewage water treatment plants, streamlining the functioning of Central Pollution Control Board (CPCB, estd. in 1974), and broadening the scope of Integrated Watershed Management programme (IWMP, in 1985) has also been taken up by the government. Thus, there is an establishment of large number of government and official bodies working in this area still the desired result is not found.

So far Rs. 20,000 crore has gone into the cleaning of the Ganga—most of it down the drain. From house-hold waste to construction debris, from used irrigation water containing fertilizer and pesticides to industrial waste, from people bathing in the river to ashes immersed in it, the Ganga is abused. (Rajshekhar M, 2016, P. 18) Till now, India has followed a relatively simple approach to clean up the Ganga—or, for that matter, any of its rivers. It has acted on the assumption that preventing pollution is sufficient to restore the river. Accordingly, India has been setting up effluent and sewage treatment plants which clean up waste water before releasing it, along rivers like the Ganga but it is of no avail. (Rajshekhar M, 2016, P. 18)

According to CPCB data cited by Veerapa Moily (then Environment Minister) in February 2014 in Rajya Sabha, 2.7 billion litres of sewage was generated everyday by class 1 and class 2 cities along the river, but only 1.2 billion litres of treatment capacity existed. That means, 55% of the sewage generated was dumped—untreated—into the

Ganga. In total it is estimated that India's cities and towns generate 38.2 billion litres of sewage every day. And the country has the installed capacity to treat only 31% of what it needs. (Rajshekhar M, 2016, P. 18) Another study of CPCB August 2013 measured capacity utilization of sewage treatment plants in 15 states. It found out that they averaged 66% usage.

Also there is a problem of Centre-State coordination for the execution and maintenance of Ganga Action Plan and Yamuna action Plan. While at the same time there is non-availability of data on existing pollution levels in rivers and lakes in terms of biological indicators (like coliform). No studies could be found on how rivers, major aquatic species, birds, plants, and animals are affected by pollution. The CAG report says that no state has identified species at risk due to river pollution. And only seven states have studied the risks to human health arising from river pollution. (Rajshekhar M, 2016, P. 18)

C. Population Growth and Water Crisis

According to the 2001 census, India has a population of 1027 million with approximately 28 per cent or 285 million people living in urban areas. As an outcome of the liberalization policies adopted by the Government of India share of the urban population may rise to about 40 per cent of total population by the year 2021. It would contribute about 60 per cent of gross domestic product (GDP). However, this higher productivity is dependent upon the availability and quality of infrastructure services. Urban economic activities are dependent on infrastructure, such as power, telecom, roads, water supply and mass transportation, coupled with civic infrastructure, such as sanitation and solid waste management. (Jawaharlal Nehru National Urban Renewal Mission, Government of India, 2011) The sanitation and water management are the important aspects among them.

D. Cultural Aspect of Water

So far one can see in the discussion that there is a problem related to water scarcity, and the measures taken for conservation and mitigation of the same by different agencies. But one thing which must be noted here that irrespective of all the measures taken the

problem is still the same, in fact deteriorating. In all these approaches to tackle the issue, there is a top to bottom and a universal approach applied to all the cases. No doubt the plan and policies, and different initiatives are required but there should be a focus on communication and cultural aspects, which is lacking in the government plans. Also water is something, the importance of which is emphasized across all the cultures and religion. Like Zam Zam water in Islam, Ganges water in Hinduism, baptism rituals in Christianity, etc. It is interesting to note that in the Indian context water and different water bodies are referred to as gods and goddess (e.g, Water as Varuna, river Ganges as Devi Ganga, etc.). In spite of the fact that India is a country where religion is given so much importance on cultural, ideological, political and economic fronts but when comes to conservation of these resources which are said to be gods and goddesses the situation is altogether different. So what is the reason behind it? This has never been pondered upon.

When one talks about river Ganga, which is the lifeline of India and is significantly important in the Indian culture and among the Hindus, it runs down from Gangotri in Himalaya to Ganga Sagar passing through different states and cities, each having their own community living by its own culture. Till now this whole issue is either addressed from the policy implementation perspective or individual/ institutional activism but not much consideration is given from the socio-economic and cultural perspective. And when we take the long stretch of Ganga it will not be feasible to comment on it from any study done concentrated on one place only. In this respect specific places with specific cultures should be focused upon in one intervention.

E. CONCLUSION

Water is an important resource for the existence of life on earth. It is so essential that even the space explorations in search of life or life forms is done based on the premise of availability of water in any of the three states of solid, liquid and gas on a particular planet/celestial body. It is this water which was a resource once has become a commodity in the present times. The water resources which once were managed and preserved by the community, kings/queens, landlords, etc., and in present times by the representative governments is becoming polluted and scarce. After the industrial

revolution and prominently after the 20th century with the increasing population and its overarching demands have deteriorated the quality and availability of water due to its commodity status in the regime of modern political system mostly democratic but capitalist. As mentioned earlier, by 2025, two-thirds of the world population could live under water stress conditions.[‡]

Also this problem is aggravating in this 21st century which is considered to be the Information age and is in the process of becoming the information society. The irony is, in this 21st century, when the media is replete with facts, figures and information and almost 100 percent penetration of media is in the developed countries and in particular India where TV penetration is almost 90% and radio penetration is 100% and print media covering the literate audience (74.04 percent literacy rate of India according to Census 2011), (Government of India, 2016) the water issues and environment concerns are high and the human race is bound to face one of the greatest threats to its existence ever as Water is Life. And in particular environment degradation is given much prominence in the media but still the desired effect is not seen.

Thus, there is a need to study this phenomenon from the perspective of communication theoretical underpinning which would give insight into the overall issue of water crisis taking the point of reference in the context of particular cultural space chosen for study. As till now this whole issue is only approached from the view of policy implementation and individual efforts without considering other elements, of which society or community is the important one. Communication is an important aspect of belief, culture and community. How the thought and the belief system of a community are shaped in is the matter of communication. In this regard the opinion and beliefs of the community also matters. Also how those belief systems are translated into various religious activities and practices need to be analyzed too before any communication strategy. So a broader picture would be available given the community of a particular cultural space would be studied from the ethnographic viewpoint enabling the

[‡] Official Website of United Nations; Available from: http://www.unwater.org/publications/publications-detail/en/c/204294; Downloaded on 10 January 2016.

researcher to suggest a communication strategy to address the same. This whole approach can be given the name of Water Communication which could be put under Risk Communication.

References

Lecture on ―Kashi Kshetra from a Geomorphic Perspective‖ in the seminar, Myths and Scientific Studies, 2 Nov. 2010 (Unpublished)

Official Website of Census of India, Government of India, Available from: http:/www.census2011.co.in/literacy.php; Downloaded on 10 January 2016.

Official Website of Central Ground Water Board, Government of India; Available from: http://cgwb.gov.in/aboutcgwb.html; Downloaded on 15 January 2016.

Official Website of Intergovernmental Panel on Climate Change; Available from: http://www.ipcc.ch/publications_and_data/ar4/wg2/en/ch10s10-6-2.html; Downloaded on 15 January 2016.

Official Website of Jawaharlal Nehru National Urban Renewal Mission, Government of India, Available from: http://jnnurm.nic.in/wp-content/uploads/2011/01/PMSpeechOverviewE.pdf; Downloaded on 15 December 2011.

Official Website of NDTV News Channel; Available from: http://www.ndtv.com/environment/melting-glaciers-india-contradicts-un-report-404570; Downloaded on 15 January 2016.

Official Website of U.S. Department of the Interior, U.S. Geological Survey; Available from: http://water.usgs.gov/edu/earthwherewater.html; Downloaded on 16 January 2016.

Official Website of UN Water; Available from: http://www.unwater.org/publications/publications-detail/en/c/204294; Downloaded on 10 January 2016.

Official Website of UN, Water for Life Decade; Available from: http://www.un.org/waterforlifedecade/; Downloaded on 15 January 2016.

Official Website of United Nations; Available from: http://www.unwater.org/publications/publications-detail/en/c/204294; Downloaded on 10 January 2016.

Official Website of UP Tourism; Available from: www.uptourism.org; Downloaded in April 2011.

Rajshekhar M, What will it take to clean up the Ganga?, in The Economic Times, Lucknow edition, 29 May 2014.

Vijay Shankar P S, Kulkarni Himanshu, Krishnan Sunderrajan. India's Ground Water Challenge and the Way Forward, Economic and Political Weekly. January 8, 2011. Vol XLVI No. 2.

हिंदी मिश्र वाक्य संरचना : विभिन्न पक्ष

पंकज कुमार मिश्र*

pankajv1385@gmail.com

प्रस्तावना-

भाषाई संरचना के अंतर्गत देखा जाए तो वाक्य का अंतिम लक्ष्य संदेश-संप्रेषण का है। तब यह भी देखा जा सकता है कि किसी भी वाक्य के निर्माण में मात्र ध्वनियों, व्याकरणिक नियम आदि ही सम्मिलित नहीं होते, बल्कि समाज में व्याप्त भाषिक नियमावली का भी बहुत बड़ा योगदान होता है। वाक्यों का विश्लेषण किया जाए तो वाक्यों के निर्माण के पीछे कई प्रकार के मंतव्य निहित होते हैं और उन पर कई प्रकार के प्रतिबंध भी होते हैं। जैसे- संरचनात्मक, अर्थगत, संदर्भगत आदि।

मिश्र वाक्य की परिभाषा-

मिश्र वाक्य के बारे में आचार्य कामता प्रसाद गुरु कहते हैं कि 'जिस वाक्य में मुख्य उद्देश्य और मुख्य विधेय के सिवा एक व अधिक समापिका क्रियाएँ रहतीं हैं; उसे मिश्र वाक्य कहते हैं।'[1] वहीं आगे डॉ. महेंद्र बताते हैं कि 'परंपरागत व्याकरण में वाक्य के तीन प्रकारों का उल्लेख किया गया है- साधारण, मिश्र और संयुक्त।'[2] आगे वाक्य के बारे चर्चा करते हुए बताते हैं कि 'नाम-भेद से वाक्य के साधारण, जटिल (मिश्र) संयुक्त प्रकार भी वर्णित किए गए हैं। डॉ. महेंद्र पहले के लोगों के द्वारा किए गए वर्गीकरण को वैज्ञानिक मानते हैं। तब उस आधार पर वाक्य के दो प्रकार हैं- (1) सरल (2) संयुक्त। मिश्र और जटिल को संयुक्त वाक्य के अंतर्गत मानते हैं।[3] इसी क्रम में सन 1980 में प्रकाशित " हिंदी का समसामयिक व्याकरण" जो यमना काचरू द्वारा लिखा गया है, की चर्चा करते हैं। उसमें यमुना काचरू ने वाक्य के दो भेद किए हैं- साधारण और जटिल। मिश्र और संयुक्त वाक्यों को उन्होंने जटिल वाक्य के अंतर्गत रखा है।[4]

मिश्र वाक्य के घटक-

मिश्र वाक्य की संरचना का विश्लेषण करने के लिए इसे दो उपवाक्यों में विभाजित किया जाता है-

(1) प्रधान या मुख्य उपवाक्य (2) आश्रित उपवाक्य।

मिश्र वाक्य के इन दो घटकों को निम्न प्रकार से विश्लेषित किया जा सकता है-

* **पी-एच. डी. शोधार्थी, भा. प्रौ., महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, .वर्धा (महाराष्ट्र)**

प्रधान या मुख्य उपवाक्य- मिश्र वाक्य की संरचना में प्रधान उपवाक्य की भूमिका प्रमुख होती है। यह मिश्र वाक्य का प्रथम घटक होता है। यह वाक्य के उद्देश्य का भाग होता है, जिसमें कर्ता की उपस्थिति निहित होती है।

जैसे- प्रिया मानती है कि आरती उसकी सहेली है।

प्रधान उपवाक्य **आश्रित उपवाक्य**

वाक्य में 'आरती उसकी सहेली है।' प्रिया द्वारा मानने की क्रिया के पूरक के रूप में है, जोकि एक प्रधान उपवाक्य है। मुख्य उपवाक्य के अंतर्गत उद्देश्य का भाग आता है जोकि कर्ता का स्थान होता है।

आश्रित उपवाक्य-

आचार्य कामता प्रसाद गुरु ने 'मिश्र वाक्य' के अंतर्गत उपवाक्यों की चर्चा करते हुए कहा है कि 'मिश्र वाक्य में एक से अधिक आश्रित उपवाक्य एक दूसरे के समानाधिकरण हों तो उन्हें आश्रित समानाधिकरण उपवाक्य कहते हैं। इसके विरुद्ध संयुक्त वाक्य के समानाधिकरण उपवाक्य मुख्य समानाधिकरण उपवाक्य कहलाते हैं।[5]' आगे भी गुरुजी बताते हैं कि 'वाक्य और वाक्यांश में अर्थ और रूप दोनों का अंतर रहता है। वाक्य में एक पूर्ण विचार रहता है परंतु वाक्यांश में केवल एक वा अधिक भावनाएँ रहती हैं। रूप के अनुसार दोनों में यह अंतर है कि वाक्य में एक क्रिया रहती है परंतु वाक्यांश में बहुधा कृदंत वा संबंधसूचक अव्यय रहता है जैसे : काम करना, सवेरे जल्दी उठना, नदी के किनारे, दूर से आया हुआ।[6]'

आश्रित उपवाक्य के संदर्भ में बात करते हुए "हिंदी व्याकरण" 'कामता प्रसाद गुरु' ने बताया है कि 'मिश्र वाक्य में मुख्य उपवाक्य एक ही रहता है, पर आश्रित उपवाक्य एक से अधिक आ सकते हैं। आश्रित उपवाक्य तीन प्रकार के होते हैं [7]' :

- **संज्ञा उपवाक्य**
- **विशेषण उपवाक्य**
- **क्रियाविशेषण उपवाक्य**

डॉ. सूरज भान सिंह ने आश्रित उपवाक्य को कहते हैं कि 'आश्रित उपवाक्य अपने अर्थ की पूर्णता या संगति के लिए मुख्य उपवाक्य की आकांक्षा करता है और स्वतंत्र रूप से नहीं प्रयुक्त हो सकता।[8]' और प्रकार्य की दृष्टि से आश्रित उपवाक्य तीन प्रकार के होते हैं - संज्ञा उपवाक्य, विशेषण उपवाक्य, क्रियाविशेषण उपवाक्य।

संज्ञा उपवाक्य-

डॉ. सूरजभान सिंह की परिभाषा संज्ञा उपवाक्य संदर्भ में सबसे उपयुक्त समझ में आती है कि 'जो उपवाक्य वाक्य में संज्ञा के स्थान पर प्रयुक्त हो सकते हैं उन्हें संज्ञा उपवाक्य कहते हैं।[9]' और यह भी परिभाषा संज्ञा उपवाक्य के संदर्भ को सही परिभाषित करती है कि "संज्ञा उपवाक्य कर्म के स्थान पर या पूरक के स्थान पर प्रधान वाक्य की संज्ञा का कार्य करने वाला वाक्य 'संज्ञा उपवाक्य' कहलाता है।"

जैसे- पंकज ने कहा कि मैं तुम्हारे घर आऊँगा।

संरचना की दृष्टि से आश्रित उपवाक्य में संज्ञा उपवाक्य के प्रयोग करने में निम्नलिखित चिन्हों का उपयोग किया जाता है। इसे तालिका के माध्यम से अच्छी तरह से समझा जा सकता है, जो इस प्रकार से है

चिन्ह	**वाक्य**	**संज्ञा उपवाक्य**
कि	पिताजी ने कहा कि वे भोजन करेंगे।	'कि' वे भोजन करेंगे।
जो	यही कारण है जो मैं नहीं आया।	'जो' मैं नहीं आया।
Ø	क्या समझूँ Ø तुम नहीं आओगे।	'Ø' तुम नहीं आओगे।

'Ø' वाले वाक्यों में 'कि' लगाया जा सकता है।

नोट- प्रायःसंज्ञा उपवाक्यों के प्रारंभ में 'कि' का प्रयोग होता है लेकिन कुछ स्थितियों में इसका लोप भी हो सकता है और कुछ परिस्थितियों में इसके प्रयोग में प्रतिबन्ध भी हो सकता है। इसे इस प्रकार से देख सकते हैं- (जैसे- प्रधान उपवाक्य से पहले प्रयोग होने पर)

जैसे- उसने कहा (कि) कुर्सी टूट गई। **('कि' का लोप)**

आप यहाँ के प्रधान मंत्री हैं यह कौन नहीं जनता? **('कि' पर प्रतिबन्ध)**

इन वाक्यों का प्रयोग मुख्यतः इच्छा, विचार, इरादा, दावा, बात आदि भाववाचक संज्ञाओं के पुरक के रूप में होता है। वही प्रधान वाक्य में प्रायः कहना, सोचना, मानना, समझना, बताना, पूछना, लगना आदि क्रियाओं का प्रयोग किया जाता है।

विशेषण उपवाक्य-

डॉ. सूरज भान सिंह ने भी 'विशेषण उपवाक्य' को परिभाषित किया है-"जो उपवाक्य संज्ञा की विशेषता बताते हैं उन्हें विशेषण उपवाक्य कहते हैं। प्रायः विशेषण उपवाक्य के प्रारंभ में संबंध वाचक सर्वनाम 'जो' (इसके

विकारी रूप 'जिन , जिस, आदि') का प्रयोग होता है। विशेषण उपवाक्य मुख्य उपवाक्य के बाद या मध्य में (शीर्ष संज्ञा के बाद) प्रयुक्त होता है, लेकिन कुछ विशेषण उपवाक्य मुख्य उपवाक्य से पहले भी प्रयुक्त होने की क्षमता रखते हैं।[10]"

जैसे-

- बाहर एक गेंद पड़ी हुई है **जो आप खोज रहे हैं।**
- कुछ लोग **जो आपके मत से असंतुष्ट हैं** आपसे मिलना चाहते हैं।
- **जो शर्ट आपने मुझे दी थी** वह फट गई।

क्रियाविशेषण उपवाक्य-

डॉ. महेंद्र ने क्रियाविशेषण को परिभाषित करते हुए कहा है- "प्रधान वाक्य में प्रयुक्त क्रिया की विशेषता बताने वाले वाक्य को 'क्रियाविशेषण उपवाक्य' कहते हैं।[11]"

जैसे- जब वह वहां आएगा तब कार्य होगा।

क्रियाविशेषण उपवाक्य के निम्नलिखित मुख्यतः पाँच भेद हैं-

क. **कालवाचक उपवाक्य-** जब तुम आओगे तब मैं निकल चुका होऊँगा।
ख. **स्थानवाचक उपवाक्य-** जहाँ तुम जी रहे हो, वहीं मैं भी जा रहा हूँ।
ग. **रीतिवाचक उपवाक्य-** जैसा बोओगे, वैसा काटोगे।
घ. **परिमाणवाचक उपवाक्य-** जितना परिश्रम करोगे, उतना ही फल प्राप्त होगा।
ङ. **हेतुसूचक या कार्यकारणवाची उपवाक्य-** प्रायः क्योंकि, यदि, ताकि, यद्यपि आदि से शुरू होते हैं।

क्रियाविशेषण उपवाक्य का प्रयोग मुख्यतः मुख्य उपवाक्य में आई मुख्य क्रिया की विशेषता बताने के संदर्भ में होता है, और यह मुख्य क्रिया की उपस्थिति किस रूप में हुई है, इसकी भी सूचना देता है।

निष्कर्ष-

इस सम्पूर्ण मिश्र वाक्य संरचना पक्ष ध्यान से देखा जाए तो मिश्र वाक्य में संज्ञा उपवाक्य मिश्र उपवाक्य में अर्थ की पूर्णता के लिए इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है। वक्ता के मनः स्थिति को व्यक्त करने वाला वाक्य होता है। वहीं विशेषण उपवाक्य मिश्र वाक्य में प्रयुक्त संज्ञा की विशेषता बताने के लिए प्रयुक्त होता है तथा क्रियाविशेषण उपवाक्य क्रिया की विशेषता को बताने के लिए प्रयुक्त होता है।

संदर्भ :-

[1] गुरु, कामता प्रसाद. (2012). *हिंदी व्याकरण.* नई दिल्ली : प्रकाशन संस्थान. पृ. 408

[2] डॉ. महेंद्र. *हिंदी वाक्य की संरचना.* नई दिल्ली : साहित्य सहकार. पृ. 27 द्वारा तिवारी,भोलानाथ : हिंदी भाषा की वाक्य संरचना, द्वितीय संस्करण 2000, नई दिल्ली : साहित्य सहकार.

[3] डॉ. महेंद्र. *हिंदी वाक्य की संरचना.* नई दिल्ली : साहित्य सहकार. पृ. 27

[4] डॉ. महेंद्र. *हिंदी वाक्य की संरचना.* नई दिल्ली : साहित्य सहकार. पृ. 27

[5] गुरु, कामता प्रसाद. (2012). *हिंदी व्याकरण.* नई दिल्ली : प्रकाशन संस्थान. पृ. 409

[6] गुरु, कामता प्रसाद. (2012). *हिंदी व्याकरण.* नई दिल्ली : प्रकाशन संस्थान. पृ. 408-9

[7] गुरु, कामता प्रसाद. (2012). *हिंदी व्याकरण.* नई दिल्ली : प्रकाशन संस्थान. पृ. 418

[8] सिंह, सूरज भान. (2000). *हिंदी का वाक्यात्मक व्याकरण*. नई दिल्ली : साहित्य सहकार. पृ. 34

[9] सिंह, सूरज भान. (2000). *हिंदी का वाक्यात्मक व्याकरण*. नई दिल्ली : साहित्य सहकार. पृ. 34

[10] सिंह, सूरज भान. (2000). *हिंदी का वाक्यात्मक व्याकरण*. नई दिल्ली : साहित्य सहकार. पृ. 35

[11] डॉ. महेंद्र. *हिंदी वाक्य की संरचना.* नई दिल्ली : साहित्य सहकार. पृ. 32

अन्य सहायक ग्रंथ :-

कपूर, बदरीनाथ. (2001). *हिंदी व्याकरण की सरल पद्धति*. वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन.

काचरू, यमुना. (1980). *हिंदी का समसामयिक व्याकरण*.

सिंह, सूरजभान. *हिंदी भाषा संदर्भ और संरचना.* नई दिल्ली : साहित्य सहकार प्रकाशन.

श्रीवास्तव, रविन्द्रनाथ. *हिंदी भाषा: संरचना एवं विविध आयाम.* नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.

हिंदी रंगमंच में बादल सरकार और तीसरे रंगमंच की प्रासंगिकता

रोहित कुमार*

rohithirawalwala@gmail.com

तीसरे रंगमंच के सिद्धांतकार बादल सरकार ने अमेरिका के परफॉर्मेंस के सिद्धांतकार, रिचर्ड स्केचनर को 23 नवम्बर 1981 को एक पत्र लिखा था। उस पत्र से शुरुआती के कुछ अंश...

"प्रिय रिचर्ड !

आप चाहते थे कि मैं "द ड्रामा रिव्यु" के 'अंतर-सांस्कृतिक प्रस्तुतियाँ' अंक के लिये लिखूं। आप चाहते थे कि मैं अपने थियेटर ग्रुप 'शताब्दी' से जुडे अनुभव लिखूं। उन कठिनाईयों के विषय में लिखूं जो मैनें झेली हैं तथा उन सफलताओं पर भी जो मुझे हासिल हुई हैं, मैं इस संदर्भित अपनी मानसिक स्थिति तथा एक नाट्य लेखक और निर्देशक के तौर पर अपना अनुभव लिखूं। मैं क्या लिख सकता हूँ? मैं निबंधों का लेखक नहीं हूँ। मैंने कुछ नाटक लिखे, लेकिन इसलिये नहीं कि मैं कोई लेखक हूँ, बल्कि इसलिये क्योंकि मैं रंगकर्मी हूँ। आपने मुझे अंग्रेजी में लिखने को कहा है, लेकिन अंग्रेजी मेरी भाषा नहीं है। 'शताब्दी' के साथ थियेटर और मेरे शहर, कलकत्ता के सांस्कृतिक जंगल में मेरे अनुभव, दूसरे व्यक्तियों, समाज और जीवन से जुडे मेरे अनुभव बेतुके हैं, घृणास्पद हैं, तो खूबसूरत भी। यह सब कुछ एक अव्यवस्थित भ्रम के ढेर में से हो कर अर्थपूर्ण और मानवतावादी रास्ता तलाशने के लम्बे इतिहास और प्रयास से बेहतर कुछ नहीं। मैं पीछे मुड़कर उस रास्ते को तलाशने और समझने का यत्न करता हूँ, जिससे मैं गुजर आया हूँ, मैं आगे बढ़कर उसे भविष्य के लिये अभिव्यक्त करना चाहता हूँ, जिससे कि अगले कुछ और कदम बढाये जा सके।"[1]

हिंदी रंगमंच संस्कृत, लोक एवं पारसी रंगमंच की पृष्ठभूमि का आधार लेकर विकसित हुआ है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में 'नाट्य' शब्द का प्रयोग केवल नाटक के रूप में न करके व्यापक अर्थ में किया है, जिसके अंतर्गत रंगमंच, अभिनय, नृत्य, संगीत, रस, वेशभूषा, रंगशिल्प, दर्शक आदि सभी पक्ष आ जाते हैं। भारत में संस्कृत रंगमंच के पृष्ठभूमि में चले जाने के बाद भी लोक रंगमंचों की परंपरा अत्यंत सुदृढ़ रही है। नौटंकी, बिदेसिया, नटुआ नाच, हुडुक नाच/गोंडउ नाच, रासलीला, रामलीला, स्वांग, नकल, खयाल, जात्रा, यक्षगान, नाचा, तमाशा आदि लोकप्रिय लोकनाट्य रूप रहे हैं। इसी प्रकार पारसी रंगमंच की भी हिंदी रंगमंच

* **पी-एच. डी. शोधार्थी, ड्रामा एवं थिएटर आर्ट्स, विश्व भारती, शांतिनिकेतन एवं**

पूर्व छात्र, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, (टाई विंग) त्रिपुरा

के विकास में ऐतिहासिक भूमिका है। बलवंत गार्गी हिंदी रंगमंच का सूत्रपात पारसी रंगमंच से ही मानते हुए कहते हैं कि

"जिस समय बंगाल में 1870 में व्यवसायिक थिएटर की नींव रखी जा रही थी, तब कुछ पारसी मुंबई में नाटक और ललित कलाओं में रुचि लेने लगे। परिणाम यह हुआ कि पारसियों ने व्यवसायिक हिंदी नाटक की स्थापना करने में पहल की इस बात का समर्थन प्रसिद्ध नाट्य समीक्षक नेमिचंद्र जैन तथा अन्य विद्वान भी करते हैं।"[2]

'बादल सरकार' उर्फ 'सुधीन्द्र सरकार' का जन्म 15 जुलाई 1925 को कोलकाता में हुआ। नाट्य निर्देशक अनिल रंजन भौमिक बताते हैं कि बादल नाम इनके चाचा ने रखा था। उस दिन खूब बारिश हो रही थी इसलिए इनके चाचा ने बादल नाम रख दिया था। पिता 'महेन्द्रलाल सरकार' स्कॉटिश चर्च कॉलेज में पढ़ाते थे और विदेशियों द्वारा संचालित इस संस्था के वे पहले भारतीय प्रधानाचार्य बने थे। मां 'सरलमना सरकार' से बादल सरकार को साहित्य की प्रेरणा मिली।

1941 में प्रथम श्रेणी में मैट्रिक पास करने के बाद वे शिवपुर इंजीनियरिंग कॉलेज में भर्ती हुए और 1946 में वे सिविल इंजीनियर बने। इंजीनियरिंग कॉलेज में पढ़ते समय छात्र संगठन से जुड़े और छात्रों द्वारा बनाई गई सांस्कृतिक टीम का नाटक की प्रस्तुति भी देखा करते थे। वे मार्क्सवादी विचारधारा और राजनीति से सघन रूप से जुड़े हुए थे। इप्टा से भी जुड़े थे। कम्युनिस्ट पार्टी में सक्रिय रूप से कई वर्षों तक जुड़े रहने के बावजूद बाद में वे पार्टी राजनीति से अलग हट गए थे। बचपन से ही बादल सरकार नाटकों के प्रति आकर्षित थे। 1957 से 1958 इन दो वर्षों के दौरान उन्होंने इंग्लैंड में 'टाउन-प्लानिंग' का कोर्स करने के साथ-साथ नौकरी की। इसी समय उन्हें प्रसिद्ध अभिनेताओं का अभिनय देखने का मौक़ा मिला। चार्ल्स लैटन, माइकल रॉडरेथ, मार्गरेट कॉलिन्स आदि के अभिनय और वहां के रंगकर्म से वे बेहद प्रभावित हुए। पर शायद उनके 'तीसरे रंगमंच' की नींव की पहली ईंट के रूप में फ्रेंच कवि रॉसिन की कृति 'फ्रिड्रे' नाटक को देखने का अनुभव था। 21 फ़रवरी 1958 को देखे गए 'थिएटर-इन-राउण्ड' में इस प्रस्तुति के बारे में अपने अनुभवों को डायरी के पन्नों में दर्ज करते हुए उन्होंने लिखा था, 'आज जो देखा उसे कभी भुला न पाऊंगा।' 1959 में वे इंग्लैंड से कोलकता लौट आए और आते ही अपने उत्साही मित्रों के साथ 'चक्रगोष्ठी' नाम से एक 'नाट्य संस्था' की नींव रखी। हर शनिवार को इस गोष्ठी में नाटक के साथ-साथ संगीत, साहित्य, विज्ञान आदि विभिन्न विषयों पर चर्चा होती थी। इसके बाद बादल सरकार फ्रांस सरकार के अनुदान पर वहां गए और फिर तीन वर्षों तक नाइजीरिया में नौकरी की। इस विदेश प्रवास के दौरान उन्होंने 'एवं इन्द्रजित', 'सारा रात्ति', 'बल्लभपुर की रूपकथा', 'पगला घोड़ा', 'प्रलाप' जैसे महत्वपूर्ण नाटक लिखे। भारत वापस लौटने के पहले ही 'एवं इन्द्रजित' बहुरूपी नाट्य पत्रिका में (अंक 22 जुलाई, 1965) प्रकाशित हो चुका था। इसके प्रकाशन के साथ ही बादल सरकार की ख्याति चारों ओर फैल गई। इसका पहला मंचन 'शौभनिक' नाट्यसंस्था ने 16 दिसंबर, 1965 को किया। नाटक के प्रकाशन और मंचन ने नाट्य जगत् में मानों धूम मचा दी। 1968 को उन्हें इस

नाटक के लिए संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार मिला। नाइज़ीरिया से भारत लौटने के तुरंत बाद उन्होंने 'बाकी इतिहास' लिखा। बादल सरकार का इस तरह के नाटक भारतीय रंगमंच में एक नए युग का संकेत था। 1967 में उन्होंने अपने साथियों के साथ 'शताब्दी' नाट्य संस्था की स्थापना की। 18 मार्च, 1967 को 'रवीन्द्र सरोवर मंच' से 'शताब्दी' ने अपनी रंगयात्रा शुरू की। 1956 से लेकर 1967 तक के सभी नाटक बादल सरकार ने 'प्रोसेनियम मंच' के लिए लिखे थे।

हम देखते हैं कि आजादी के बाद हमारे देश की आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति को देखते हुए देश के चारों दिशाओं में चार महत्वपूर्ण भाषाओं में अलग-अलग नाटक लिखे गए जिसमें उतर भारत में हिंदी भाषा में मोहन राकेश का नाटक 'आषाढ का एक दिन', दक्षिण भारत में कन्नड़ भाषा में गिरीश कर्नाड का नाटक 'तुगलक', पश्चिम भारत में मराठी भाषा में विजय तेंदुलकर का नाटक 'घासीराम कोतवाल' और उत्तर पूर्व में बांग्ला भाषा में बादल सरकार का नाटक 'एवं इंदरजीत' ये चारों नाटक भारत की कालजयी नाटक है। आजादी के बाद रंगमंच का व्यापक विस्तार हुआ प्रशिक्षित रंगकर्मियों के द्वारा प्रशिक्षण शिविरों और नाट्य प्रस्तुतियों ने अनेक नाटक संस्थाओं को जन्म दिया। दिल्ली में 'श्रीराम सेंटर' ने हिंदी रंगमंच के विकास में ऐतिहासिक भूमिका निभाई है। हिंदी रंगमंच के केंद्र दिल्ली के साथ-साथ उत्तर भारत के अन्य शहरों में भी फैलने लगे एवम नई प्रतिबद्धता के आधार पर नई-नई रंगमंच टोलियों का संगठन होने लगा। 'अभियान, देशांतर, थिएटर यूनिट, नया थिएटर, 'अनामिका' 'जननाट्य मंच, आदि अनेक संस्थाओं ने हिंदी रंगमंच की नींव को मजबूत किया। वस्तुतः1960–70 का समय रंगकर्म में क्रांति लहर की तरह था। सर्वश्रेष्ठ हिंदी नाटक इसी समय में रचे गए एवं मंचित हुए। भारतीय भाषाओं के नाट्य अनुवाद हिंदी रंगमंच पर प्रस्तुत होने लगे। जिसमें बादल सरकार का नाटक 'एवं इंदरजीत' भी हिंदी रंगमच पर खूब हुआ। इसी समय में बहुत से अभिनेता निर्देशक और विशिष्ट कलात्मक प्रतिभा के कारण प्रतिष्ठित हुए उदाहरण के लिए ओम शिवपुरी, सुधा शिवपुरी, ब. व. क्रांत, मोहन महर्षि, मनोहर सिंह, रामगोपाल बजाज, सुरेखा सीकरी, जोहरा सहगल और साथ में बादल सरकार आदि ने अभिनय, निर्देशन और नाट्य लेखन आदि के क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित किए। 1967 से 1977 तक का समय हिंदी नाटक और रंगमंच का अत्यंत सक्रियता और गतिविधियों से भरपूर रहा। रंगकर्म की तीव्र गति प्रयोगशीलता और उत्साह ने नवीन कृतियों में नवीन संभावनाओं की तलाश की और विभिन्न देशी–विदेशी कृतियों के अनुवादों और उसके नाट्य रूपांतरण पर ध्यान केंद्रित हुआ। बंगला, मराठी, गुजराती, कन्नड़, तेलुगू, मलयालम के साथ साथ फ्रेंच, जर्मनी, अंग्रेजी, रूसी आदि भाषाओं की श्रेष्ठतम नाट्य कृतियों के अनुवाद तीव्र गति के साथ शुरू हुए जिससे दूसरी भाषाओं की नाटक कृतियां और शैलियां हिंदी रंगमंच पर आई।

लिहाज़ा 'शताब्दी' की आरंभिक प्रस्तुतियां 'प्रोसेनियम' ही थीं। 1971 से रंगमंच को लेकर बादल सरकार की अवधारणाएं तेजी से बदलने लगी थीं और वे निरंतर प्रयोग कर रहे थे। प्रयोगों के इस दौर से गुजरते हुए वे 'तीसरे रंगमंच' तक जल्द ही पहुंच गए। वे मानने लगे थे कि नाटक एक जीवंत कला माध्यम है।

अभिनेताओं और दर्शकों के दो समूह के रूप में यह एक मानवीय क्रिया है- 'मनुष्य का मनुष्य के साथ जुड़ाव।' उन्होंने अन्ततः रंगमंच को सार्थक कला माध्यम के रूप में स्थापित करने के उद्देश्य से प्रोसेनियम रंगमंच को त्याग तीसरे रंगमंच को आम जनता तक एक 'फ्री-थिएटर' के रूप में ले जाने में कामयाबी हासिल की। तदुपरांत 1970 से 1993 तक बादल सरकार ने सभी नाटक तीसरे या वैकल्पिक रंगमंच को ध्यान में रखकर लिखे।

बादल सरकार के तीसरे रंगमंच ने भारत की भाषाई, प्रांतीय और सांस्कृतिक दूरियों को खत्म कर पहली बार एक सार्थक भारतीय रंगमंच विकसित करने की दिशा में एक सफल प्रयास किया। हिन्दी, मराठी, पंजाबी, गुजराती, मलयाली, कन्नड़, ओडिय़ा आदि भारतीय भाषाओं में बादल सरकार के नाटक मंचित हुए और किसी न किसी रूप में देश के सभी प्रांतों के रंगकर्मियों को तीसरे रंगमंच ने अपनी ओर आकर्षित किया। बादल सरकार ने आंगन, छत, नुक्कड़ और गांवों में नाटकों को पहुंचा कर नाटक को व्यापक बनाया। उन्होंने तीसरे रंगमंच का सैद्धांतिक प्रतिपादन किया और उसे मंच पर भी उतारा। बादल सरकार के अनुसार शहरी रंगमंच पश्चिम से प्रभावित है और ग्रामीण रंगमंच पारंपरिक शैलियों से और दोनों में ही अंतर्वस्तु की कमी है। शहरी रंगमंच अपने प्रोसिनियम दायरे में बंधा है और ग्रामीण या पारंपरिक रंगमंच अपनी पुरानी शैलियों में, जिसमें प्रखर राजनीतिक चेतना का अभाव है। बादल सरकार आधुनिक रंगमंच को प्रोसिनिमय दायरे से निकाल कर लोगों के बीच ले गए। गांवों और कस्बों में ले गए। आम लोगों के बीच ले गए। रंगमंच को उन्होंने राजनीतिक चेतना से लैस किया। बादल सरकार के नाटक जुलूस (बांग्ला में मिछिल) ने अखिल भारतीय स्तर पर 1974-75 के दौर में (जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में शुरू हुए छात्र आंदोलन का दौर) रंगकर्मियों और नाट्य प्रेमियों की कल्पनाशीलता को बेहद प्रभावित किया। नुक्कड़ नाटकों को लोकप्रिय बनाने, उसे रंगमंच की समकालीन बहस के बीच लाने में सबसे बड़ा योगदान बादल सरकार का ही है।

बादल सरकार के मृत्यु के तुरंत बाद सक्रिय रंगकर्मी ब्रह्म प्रकाश लंदन विश्वविद्यालय से जन कलाओं पर शोध करने के दौरान फिलहाल जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में सहायक प्रोफ़ेसर हैं, इनके लेख के कुछ अंश…

"आपसे और आपके तीसरे रंगमंच के बारे में मेरा पहला परिचय जेएनयू में तब हुआ जब मैं कैंपस आधारित नुक्कड़ नाटक समूह जुगनू से जुड़ा था। परिचय क्या था, प्रेरणा थी। तब आपके तीसरा रंगमंच का प्रशंसक हो गया था मैं। आप जिस खूबी से स्पेस का इस्तेमाल किया करते थे, अपने नाटकों में आपने जिस बारीकी से अभिनेताओं की देह(शरीर) का इस्तेमाल किया था और उसमें एक नयी जान फूंक दी थी, वह पहली नजर में बहुत प्रभावशाली लगता था। जब चाहा आपने उसे पेड़ बना दिया, जब चाहा एक लैंप पोस्ट, खास कर जिस तरह से आपके एक चरित्र दूसरे चरित्र में बदल जाते थे और दूसरे चरित्र को आत्मसात कर लेते थे, वह काबिले तारीफ था। स्पेस और बॉडी का ऐसा मेल आधुनिक भारतीय रंगमंच में शायद ही किसी ने किया हो। आप सिर्फ रंगमंच को सभागार से बाहर ही नहीं लाये, आपने नुक्कड़ों और सड़कों को ही मंच बना दिया।"

इसी क्रम में वरिष्ठ रंगकर्मी एवं लेखक विमल वर्मा लिखते हैं-

"बादल सरकार के नाटक का स्वर ज्यादातर व्यवस्था विरोधी रहता था। इसके लिए दादा अलग से नाटक भी लिखे। 'भोमा', 'स्पार्टाकस', 'मानुषे मानुषे', 'बासी खबर', बर्टोल्ट ब्रेख्त के नाटक 'कॉकेशियन चॉक सर्किल' पर आधारित नाटक 'घेरा', बादल दा ने ये सारे नाटक विशेष तौर पर 'तृतीय रगमंच' को ध्यान में रखकर लिखा, जिसमें चारों तरफ दर्शक के बीच में नाटक होता था। उनका लिखा नाटक 'मिछिल', जिसे हिंदी में 'जुलूस' नाम से खूब खेला गया। हर तरफ बादल दा के नाटकों का शोर था, बादल सरकार का तीसरे रंगमंच की वजह से छोटे-छोटे कस्बों और शहरों में सैकड़ों नाटक की संस्थाओं ने जन्म लिया। यही दौर नुक्कड़ नाटकों का भी था। बादल दा की इस शैली का असर उस दौर के नुक्कड़ नाटकों पर भी खूब पड़ा था। उस समय बिहार के आरा में 'युवा नीति', रोहतास जिला में नवजागरण, पटना में 'हिरावल', दिल्ली में 'जन नाट्य मंच' और इलाहाबाद की 'दस्ता', पटना 'इप्टा' अपने-अपने इलाके में बहुत ज्यादा सक्रिय थे। आजमगढ़ की 'समानांतर' जो कि इस ग्रुप के साथ 1980 में बादल दा ने तीसरे रंगमंच के लिए वर्कशॉप भी किया था।"[3]

जन संस्कृति मंच के पूर्व महासचिव व आलोचक प्रणय कृष्ण का कहना है कि *"नक्सलवादी के महान विप्लव ने जनता के बुद्जीवियों से मांग की कि वे जन-कला की क्रांतिकारी भूमिका के लिए आगे आयें बादल सरकार का नाटक जनता की चेतना के क्रांतिकारी दिशा में बदलाव के लिए तैयार करने के अनिवार्य उपक्रम के रूप में नुक्कड़ नाटक और रंगमंच को विकसित कर रहे थे। इसी भूमिका के लिए उन्होंने थर्ड थिएटर की ईजाद की। उन्होंने जनता और रंगमंच, दर्शक और कलाकार की दूरी को एक झटके से तोड़ दिया। नाटक अब कहीं भी हो सकता था। चौक-चौराहा, गली-मुहल्ला, छत-आंगान, बड़ा रूम कहीं भी। यह एक प्रकार से नुक्कड़ का ही मॉडरेट रूप था। बादल सरकार ने मंच सज्जा, रूप सज्जा, वेशभूषा और रंगमंच के लिए हर तरीके की विशेष ज़रूरत को गैर–अनिवार्य बना दिया। बिहार में नवजनवादी सांस्कृतिक मोर्चा, जसम से जुड़े बिहार के नाट्य दलों में युवानीति, हिरावल, नवजागरण, और रंगनायक द लेफ्ट थिएटर ग्रुप ने कई नुक्कड़ नाटक किये जिनमें नक्सलवादी वाम विचारधारा के साथ–साथ बादल सरकार के थर्ड थिएटर के तत्व मौजूद थे।"*[4]

बादल दा का तीसरे रंगमंच का विस्तार तीन स्टेज में देखने को मिलता है- पहला मंच पर कोर्ट रूम बनाकर 'सगीना महतो' नाटक करते हैं, दूसरा 'स्पार्टकस' नाटक आँगन मंच पर करते हैं फिर तीसरा स्टेज बाहर निकलकर आते हैं तो 'भोमा' और 'जुलूस' नाटक करते हैं।

रंगकर्मी वागीश कुमार सिंह अमर उजाला अख़बार में लिखते हैं

"मैंने बादल दा को जाना उनके नाटक भोमा की दिल्ली में हुई प्रस्तुति से। यह नाटक उन्होने 1977 में श्री राम सेंटर ऑडिटोरियम के उपर बने बड़े हौल में खेला था। आज कल जहाँ दफ्तर चलते हैं। बड़े से हौल में बीचो-बीच प्लेटफॉर्म से बना चौकर मंच था। दर्शक चारों ओर जमीन पर बैठे थे। अभिनेता काले कपड़ों मे थे।

बादल दा भी उनमें से एक थे। नाटक के शुरू होते ही दर्शकों को पूरी तरह से जोड़ लिया था। रंगमंच पर किसी तरह का कोई और साधन नहीं था। रंग सृष्टि का मुख्य और मौलिक तत्व अभिनेता ही केंद्र मे था। नाटक कब शुरू हुआ और कब ख़त्म पता ही नहीं चला। कुछ ही दिनों बाद दिल्ली के कुछ युवा रंगकर्मी ने 'थिएटर वर्कशॉप' समूह बनाया और 1978 में भोमा को हिन्दी मे प्रस्तुत किया। बादल सरकार ने खुद दिल्ली आकर इन युवा रंगकर्मियों के साथ कार्यशाला किया। मैं भी इस कार्यशाला में था और कुछ दिन बाद अपने यहाँ जुलूस नाटक हिन्दी में किया। बादल दा की मान्यता रही कि जहाँ रंगकर्मियों के पास प्रतिभा, उत्साह और लगन तो है, पर साधन नहीं है, वहाँ तीसरे रंगमंच की जरूरत है।"[5]

1972 में पद्मश्री, वर्ष 1997 में संगीत नाटक अकादमी-रत्न सदस्य का पुरस्कार मिला। वर्ष 2010 में भारत सरकार द्वारा उन्हें पद्म-भूषण सम्मान दिया गया जो कि उन्होंने लेने से यह कहकर इनकार कर दिया कि एक लेखक का सबसे बड़ा सम्मान साहित्य अकादमी पुरस्कार वह पहले ही पा चुके हैं। तीसरे रंगमंच के संस्थापक और भारतीय ग्रामीण पारंपरिक रंगमंच के पुरोधा बादल सरकार का पश्चिम बंगाल की राजधानी कोलकाता में 13 मई 2011 को निधन हो गया। बादल दा हिंदी रंगमंच पर लगातार बने रहे। बादल दा के नाटक हिंदी में अनूदित होकर मंचन और प्रदर्शन होते रहे खासकर तीसरे रंगमंच को लेकर हिंदी पट्टी के अलावा अन्य क्षेत्रों में आज भी इसके तत्व मौजूद हैं।

तीसरे रंगमंच के लिए बादल दा द्वारा लिखा नाटक 'भोमा बहुत प्रासंगिक है, वो भोमा कौन है, सुंदर वन का भोमा है, जो गाँव से शहर आता है और शहर मे बाबू लोग के लिए मकान बनाता है, बाबू लोग के यहाँ काम करता है, उनकी औरत बाबू लोग के घर में बर्तन माँजती है, भोमा नाटक में एक संवाद है- मुझे भात भात दो, दूसरा बोलता है- तुम कैसे खाओगे? अगर तुम भात खाओगे तो हमारे पुलाव का इंतजाम कैसे होगा। बादल दा का नाटक समाज में अत्याचार और बिखरती समाज व्यवस्था के विरुद्ध तीखा प्रतिरोध करता है। समाज और राजनीति की विद्रूपताओं पर उनका नाटक गहरी चोट करता है। इस कारण से बादल सरकार के नाटक और वे स्वयं भी देश के रंगकर्मियों के चहेते बने रहे। बिगड़ती राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों के प्रति विरोध प्रदर्शित करने एक सस्क्त माध्यम तीसरा रंगमंच है। जिसके माध्यम से प्रतिरोध की संस्कृति को मजबूत बनाया जा सकता है। इस प्रतिरोध को जनसमान्य के साथ जोड़कर एक सशक्त रूप प्रदान करने के लिए बादल सरकार का तीसरा रंगमंच हमारे लिए आदर्श प्रेरणा है। आज के इस पूंजीवादी दौर में सता और पूंजी का वर्चसव बढ़ने के साथ-साथ उसके अंतरविरोध भी गहरे होते जा रहे हैं। आधुनिक शहरी रंगमंच में प्रतिरोध का स्वर क्षीण पड़ता जा रहा है। महंगी लाइट, खर्चीले वेशभूषा एवं आरामदायक प्रेक्षागृह आदि पर ज्यादा ध्यान दिया जा रहा है। शहरी रंगमंच के विपरीत लोक रंगमंच है जिसकी शैली एवं कथ्य नितांत परम्परागत होने के कारण समाज की समकालीन समस्याओं से कटा हुआ प्रतीत होता है। ऐसी गंभीर स्थिति को उभार करने के लिए बादल दा ने थर्ड थिएटर का सिद्धांत दिया। 'संस्कृति

उद्योग' के समय में कला को केवल चका-चौंध ही देखने का प्रचलन हो चला है। संस्कृति उद्योग के अपने अध्ययन में जर्मन फ़िलॉसफ़र 'थेओडेर अड़ोर्नो' लिखते हैं कि

"पूँजी, टेक्नॉलॉजी, संचार एवं लोकप्रियता के साथ-साथ कला के संबंधों में भारी बदलाव आया है। इस बदलाव ने कला में निहित उसके सामाजिक-राजनैतिक मूल्यों को ख़त्म कर सिर्फ उसके सौंदर्य मूल्यों को उजागर करने का काम किया है। ऐसा होते ही कला सिर्फ मनोरंजन की वस्तु बन कर रह जाती है।"[6]

बादल सरकार ने पहली बार राजनैतिक रंगमंच के लिए नई भाषा तलाशने की कोशिश की थी जिससे दर्शकों के साथ एक बेहतर संवाद बनाया जाए। बादल दा ने आधुनिक रंगमंच को प्रोसिनियम दायरे से बाहर निकालकर गाँव, कस्बों में आम लोगों के बीच ले गए। साथ ही दर्शकों और अभिनेताओं के बीच के अंतर को भी खतम करने का प्रयास किया। प्रोसिनियम से तीसरे रंगमंच तक के इस दौर मे बादल दा ने केवल रंगमंच के स्वरूप को लेकर ही प्रयोग नहीं किए बल्कि नाट्य लेखन और निर्देशन की नयी संभावनाओं को भी तलाशा तथा प्रतिरोध के रंगकर्म का विस्तार किया।

संदर्भ :-

1. इंटरकल्चरल पर्फॉर्मेंस. (समर, 1982). *दि ड्रामा रिव्यु* : अंक 26, क्र. 2
2. https://en.wikipedia.org/wiki/Badal_Sarkar
3. https://thumri.blogspot.com/2008/07/blog-post.html
4. भौमिक, अशोक. (2008). *बादल सरकार : व्यक्ति और रंगमंच (हिन्दी)*. गाजियाबाद : अंतिका प्रकाशन. पृ. 6.
5. सिंह, वा. क. (2014, अगस्त 24). बादल सरकार और तीसरा रंगमंच. *अमर उजाला,* पृ. 4.
6. Bernstein, J. M. (E). (2000).*The Culture Industry.* New York: Routledge, p. 98

NUTRITIONAL STATUS AMONG CHILDREN OF KANWAR TRIBES OF KORBA DISTRICT, CHHATISGARH, INDIA

POOJA BANJAREY*

p123banjare@gmail.com

Abstracts

Background: Nutrition is an important aspect which leads to healthy life for everyone. It's necessary to live a better life. For getting better health, it requires good food and environment. Nutrion is most important to growing children 0-6 years. The majority of the research findings stated that mostly tribal community not getting such nutritional food. Due to these, children suffering from like malnutrition. Malnutrition or malnourishment is a form that results from eating a diet in which nutrients are either not adequate or are too much such that the diet causes health problems/issues.

Objectives: To study the nutritional level among children age group between 0-6 years.

Methods: The present study was carried out amongst Kanwar children in Korba Block Chhattisgarh in the age group between 0-6 years. 50 children were selected (both boys and girls) for the study. Data were collected through Anthropometric measurements, Interview Schedule, Participant observation,.

Result and Discussion: The study found that out of 50 children, 21 children were found underweight and 29 were normal weight. Of them about 46 % were mild malnutrition. Malnutrition is due to lack of knowledge, awareness about diet, proper education, poverty and poor socioeconomic status.

* **Ph.D. Research Scholar, Deptt. of Anthropology, Dr. Harisingh Gour Vishvavidyalaya, Sagar**

Introduction:

Nutrition is an important aspect which leads to healthy life for everyone. It's necessary to live a healthy life. For getting good health, it requires good food and environment. The majority of the research findings stated that mostly tribal community not getting such nutritional food. Due to these, children suffering from like malnutrition. Malnutrition or malnourishment is a form that results from eating a diet in which nutrients are either not adequate or are too much such that the diet causes health problems/issues. Malnutrition is indeed a global emergency and courageous and timely actions are needed from governments, media outlets, non-governmental organizations and other institutions. Malnutrition is based on all its forms includes under nutrition, inadequate vitamins or minerals [1, 2]. One third of the population of Chhattisgarh belongs to the Scheduled Tribes. And about 31.76 percent of the total population of the state belongs to the Scheduled Tribes. Kanwar tribe mainly resides in Raigarh, Bilaspur, Surguja, Raipur and Rajnand districts of Chhattisgarh. They are also found in Madhya Pradesh, Orissa, Jharkhand and Maharashtra. The economy of this tribe is different from the economy of the advanced society. Their requirements are limited. They depend on nature for their limited needs. These tribes earn their living by doing agriculture, collection of forest produce and engased in labour work. A large number of them live in forest areas [3,4,]. Poverty is always associated with malnutrition, therefore, if the economic condition of a country is to improve then it is absolutely necessary to improve the condition of malnutrition as well. But India does not conform to the above pattern, i.e. the decline in malnutrition is not related to better economic conditions in the country and thus represents a typical example of the "South Asian puzzle"[5,6]. The problem of underweight children is very serious among the total 54.5% of the Scheduled Tribes, 47.9% of the Scheduled Castes and 43.2% of the Other Backward Classes. There are 74 tribal communities designated as Scheduled Tribes, based on their low growth, low literacy, primitive levels of agriculture and Baiga tribe is one of them.[7,8,9].

Objectives:

To study the nutritional status among children age group between 0-6 years.

Materials and Methods:

The present study was carried out amongst Kanwar children in Korba Block in the age group between 0-6 years. 6 villages (Ajagarbahar, Dhangawana, gourbora, kachhar, Pandaripani and Saraisingar) were selected for study purpose. Study period was from July to August 2015. Total of 50 children were selected (both boys and girls) for the study. Anthropometric measurements: the anthropometric measurement of height and weight of Kanwar tribal children were taken to calculate the BMI through Anthropometric rod, weight machine and sitting height. Upper arm and Head Circumference measurement taken through measuring tape. Dietary pattern and socio-economic status were taken through structured Interview Schedule, Participant observation. Data were collected also through Anganwadi Centre, Primary School and Ashram School.

Variables: variables included age, socio-economic status, weight, height and dietary intake pattern. For standardised the results, we had taken WHO classification and Kanavati & McLarn Classification.

Nutrition level classification:

1) WHO Classification of BMI (2006)

Body Mass Index	**Classification**
Underweight	<18.5
Normal	18.5-24.9
Overweight	25-29.9
Obesity -1(Class-1 Obesity)	30-34.9
Obesity -2(Class-2 Obesity)	35-39.9
Obesity -3(Class-3 Obesity)	>40

2) Kanavati & McLarn Classification

Under this, the circumference of the forearm and the circumference of the head are displayed by the following formula by tape.

Kanavati & McClarn classification = upper arm circumference/ and head circumference

The obtained value is analyzed as follows- Arm circumference and head circumference (1970)

Classification	MUAC/HC index value (…)
Obesity	>0.35
Normal	0.31-0.34
Mild malnutrition	0.28-0.30
Moderate Malnutrition	0.25-0.28
Severe Malnutrition	<0.25

Results and Discussion:

This study was conducted among the 50 children of 0-6 years. **Table-1** shows that, Out of 50, 21 children were found underweight and 29 were normal weight. **Table-3** shows that boys (60%) were more suffered than girls (30%). The prevalence of underweight in the current study was 42%.**Table-4** shows that among boys 5% were found severe malnutrition, 45% mild malnutrition, 25% were normal, 20 % were moderate, and 5 % were obese. Among girls, 46% were mild malnutrition, 26.67% were normal, 10% were mild malnutrition, 10% were and 6.67% were severe malnutrition. Most of the children were preferred both veg and non-veg. Their food habits were depends on availability of the food.

Table-5 Shows that 40% parent's income was 1000-2000, 28% were 500-1000, 26% were 2000-3000, 6% were 3000-4000. Table-6 shows that most of the tribal people depend on wages and agricultural wages for their livelihood. Then they follow forest food.

Explain the results of **table-6 &7** heare

Since, India has largest child development program in the world, yet progress on malnutrition is limited. Child under nutrition continues to occupy a significant share of the global health burden: in total, around 161 million children under-five are chronically malnourished, 99 million children are underweight, and 45% of child deaths are attributable to malnutrition [10]. From the above discussion, it can be attributed that

most of the Kanwar populations of Chhattisgarh live in forest areas, without any awareness. They people depend on mostly yet forest food. This food helps them to make stay better. But on other side they don't have knowledge and awareness about nutrient food.

Table-1 Distribution of Children according to Body Mass Index:

Body Mass Index	**Frequency (%)**
Underweight(BMI <18)	21(42%)
Normal Weight(BMI 18-24.5)	29(58%)
Total	**50 (100%)**

Table-2. Age Group wise Sample Distribution:

Age Group	**Boys**	**Girls**
0-2 years	4	6
2-4 years	9	11
4-6 years	7	13
Total	**20**	**30**

Table-3. Category wised BMI Distribution:

BMI	**Boys(Frequency)**	**Girls(Frequency)**
Underweight	12(60%)	9(30%)
Normal weight	8(40%)	21(70%)
Total	**20(100%)**	**30(100%)**

Table-4. Upper Arm Circumference & Head Circumference of 0-6 year's age group boys & girls

NO.	**Kanavati & McLarn Classification**	**Boys(Frequency)**	**Girls(Frequency)**	**Total**
1	Obesity	1(5%)	3(10%)	4(8%)
2	Normal	5(25%)	8(26.67)	13(26%)
3	Mild malnutrition	9(45%)	14(46%)	23(46%)
4	Moderate Malnutrition	4(20%)	3(10%)	7(14%)
5	Severe Malnutrition	1(5%)	2(6.67)	3(6%)
	Total	20(100%)	30(100%)	50(100%)

Table-5. Monthly income

No.	Village	Total (Male-Female)	Monthly Income					
			500-1000	1000-2000	2000 - 3000	3000 - 4000	4000 - 5000	More than 5000
1.	Ajgarbahar	6	1	2	1			
2.	Dhangaon	8	1	3	1	1		
3.	Gourbora	9	2	4	3			1
4.	Pandripani	9	4	3	2		3	
5.	Kachhar	9	2	4	3			1
6.	Saraisingar	9	1	3	2	1	1	
	Total	50	11(22%)	19(38%)	12 (24%)	2(4%)	4(8%)	2(4%)

Table-6 Occupational status

NO	Village	Total		Occupation															
		Male	Female	forest production (FP)		wages/agriculture wages(W/AW)		agriculture (A)		Total(FP+W/AW+A)		bamboo work		job in private institute		Government Job		Others	
				M	F	M	F	M	F	M	F	M	F	M	F	M	F	M	F
1.	Ajgarbahar	4	2	-	-	1	2	-	-	3	-	-	-	-	-	-	-	-	-
2.	Dhangaon	3	5	-	2	-	1	-	-	3	2	-	-	-	-	-	-	-	-
3.	Gourbora	4	5	-	1	-	3	-	-	3	1	-	-	-	-	1	-	-	-
4.	Pandripani	2	7	-	2	2	3	-	-	-	2	-	-	-	-	-	-	-	-
5.	Kachhar	5	4	-	2	3	1	1	1	-	-	-	-	-	-	1	-	-	-
6.	Saraisingar	2	7	-	1	1	2	1	-	-	4	-	-	-	-	-	-	-	-
	Total	20	30		8(26.66%)	7(35%)	12(40%)	2(10%)	1(3.33%)	9(45%)	9(30%)					2(10%)			

Table 7- Details of food items commonly consumed by the respondents:-

No.	Food ingredient	Morning	Afternoon	Evening
1	Grain(Rice, Kodo, Kutki), Tomato sauce*(Chatni),* Stale, lentils, root and tuber vegetables	16(32%)	28 (70%)	27(54%)
2	Rice, Lentils (Twinra, split pea (Batar), Arhal Daal, Green Leafy Vegetables	11(22%)	12(22%)	14(28%)
4	Rice flour Chapati (*cheela*)	23(46)	6(7.92)	0
5	Wheat flour Chapati	0	0	0
6	Meat, fish and eggs (Occasionally)	0	4	9(18%)
7	Other	0	0	0
	Total	**50(100%)**	**50(100%)**	**50(100%)**

Conclusion:

Study resulted very alarming nutrition status among children.

Under-nutrition is a key problem with tribal children in rural area who suffer from growing delay that can lead to serious health issues. In this study area, there are major socio-economic problems, lack of knowledge about healthy food, education and so on. Due to this, their diet often lacks in both quality and quantity. An urgent intervention by supplementation of key nutrients is required to assure nutritional status improvement in these children.

References:

Chakma, T., Meshram P., Rao P., Singh S., & Kavishwar A. (2009). Nutritional Status of Baiga–A Primitive Tribe of Madhya Pradesh. The Anthropologist, 11(1), 39–43.

Jhariya J., Sharma A., & Rajesh G. (2013). Living Standard and economic condition among Baiga of Mandla District, Madhya Pradesh. Voice of Intellectual Man, 3(2), 95–104..

Kumari, M. & Alam, S. (2017). Jarkhand ke kawar aadiwasiyon me swasthya sambandhi awdharnayen evm manavjati chikitsiya prathaye. ISSN 2348-3857, p 118-126.

Mitra, M., Sahu P.K., Chakrabarty S., Bharti S. & Bharti P. (2017). Nutritional and Health Status of Gond and Kawar Tribal Pre-school Children of Chhattisgarh, India. pp. 293-299. https://doi.org/10.1080/09709274.2007.11905988.

P, S. (2019). Socioeconomic determinants of nutritional status among 'Baiga' tribal children In Balaghat district of Madhya Pradesh: A qualitative study. PLoS ONE 14(11): e0225119.

Sahu, S. K., Kumar G., Bhat B.V., Premarajan K.C., Roy G & Josheph,N. (2015). Malnutrition among under-Five children in India and strategies fir control. pp18-23. https://dx.doi.org/10.4103%2F0976-9668.149072

Shirisha, P. (2019). Socioeconomic determinants of nutriyional status among 'Baiga' tribal children in Balaghat district of Madhya Prasesh: A qualitative study. doi: 10.1371/journal.pone.0225119

The Lancet(2019). Child nutrition: the need for courageous action.394: 1387. https://doi.org/10.1016/.

Tiwari, D. N. (1984). "Primitive Tribes of M.P. Strategy for Development." Govt. of India, Ministry of Home Affairs, Tribal Development Division, New Delhi.

Tubid, D. (2015). Undernutrition among Tribal Children.Tata Institute of Social Sciences.DOI: 10.13140/RG.2.1.3708.9442. https://www. researchgate. net/publication /278312782. (Accesses date on 12/07/2021).

PROSPECTS OF SILK INDUSTRY IN INDIA WITH SPACIAL REFRENCE TO JHARKHAND

DR. RAVINDRA KUMAR*

ravindraekansh@gmail.com

Abstract:

India is the second-largest producer of silk after China and accounts for nearly 18% of global raw silk production. With sericulture activities spread across 52,360 villages, the silk industry in India is one of the largest generators of employment and foreign exchange for the country. India enjoys a unique universal position in terms of the production of all commercially useful varieties of silk. As of 2015-16, the total raw silk production in the country is 28523 MT and goes up to 30348 MT in 2016-17 with an employment generation of 85.16 lakh people. Jharkhand has 24 districts and all the districts have Sericulture activities. It provides income and employment to the rural poor and tribals in Jharkhand and adjoining states in India. The government of Jharkhand has initiated various sericulture development schemes with the support of the Central Silk Board to improve the socio-economic conditions of the people and empowerment of tribals.

Keywords: Silk, sericulture, Jharkhand, Tasar, Silkworm, Tribal.

Introduction:

Silk culture in India is not an industry but a tradition. For long it remained obscure as an exclusive craft of tribe's and hill folks inhabiting the forests of Jharkhand, Bihar, Madhya Pradesh, Orissa, Andhra Pradesh and Uttar Pradesh. It was in the recent past

* **Assistant Professor, Department of Commerce, Yogoda Satsanga Mahavidyalaya, Ranchi, under Ranchi University, Ranchi.**

that this tribal tradition assumed importance and attracted attention at National Level. The rich production potentialities within the country and a steady demand of the products outside, promoted commercial exploitation of this craft, which culminated in the transformation of an old tradition to an industry on immense potentiality. Silk is used as textiles of almost all forms. Its market ninch is because of its luxurious look, sleek feel and luster. India has been producing silk since 1000 BC as per recorded history. Countries like China, Bangladesh, Thailand, Japan, Brazil and Italy also produce silk. However, India is unique in that as it produces all types of silk such as Mulberry, Muga, Eri and Tasar.

India is the second largest producer of Tasar silk in the World after China. In India, silkworm is reared on trees like Arjuna, Sal and Asan, which are available abundantly in the approx 14 million hectares of tropical forests in the state of Jharkhand, Bihar, Chhattisgarh, West Bengal, Orissa, Maharashtra and Andhra Pradesh. As per the data of the Central Silk Board, the apex sericulture institution in India, there is about one lakh family presently engaged in Tasar rearing in India, out of which 65,000 families are from Jharkhand. Silk today, is an indispensable and growing part of tribal culture and a medium for transformation of the whole rural economy in relation to the entire national structure. The industry has rich national resources and man power and the challenges are to utilize these to bring about a balanced development in keeping with their traditions and the way of life.

The Indian government has constituted a statutory body, the Central Silk Board (CSB) which works out plans and policies for the development of silk in India. It's making efforts to better the condition of the rural population, through raising the quality of silk, which fetch remunerative returns and also provide part of full time employment to rural population. India has been able to make these bold strides in silk development due to its organized economic planning. Through successive five years plan - the traditional Silk Industry has developed remarkably, raising raw silk production from mere 900 tons in 1951-52 to 7673 tons in 1985 (end of sixth plan). The seventh plan (1986-90) aiming at yearly production up to 10900 tons3, was achieved. The production of raw silk up to the end of 9th plan (1997-2002) was 17461 tons.

Growth of sericulture sector:

The number of farmers engaged in tasar culture had increased from 7,813 in 2007-08 to 165,000 in 2013-14 farmers. Similarly, the number of villages which had taken up tasar culture had increased from 1,356 to 16997 during the same period. The quantity of DFLs brushed increased from 23.65 lakhs to 208.28 lakhs. The total quantity of cocoons produced by farmers increased from 1,414 lakh cocoons, to 15,327 lakhs. The year wise growth of sericulture in Jharkhand state is shown in graphs 1 to 4. The quantity of silk produced increased to 2,001.4 tonnes from 143 tonnes. These trends indicate that there has been more than 10 times increase in the output of tasar silk sericulture in Jharkhand state. The Government has created useful infrastructure such as 271 common facilities centres (CFC), 25 cocoon banks and developed backward and forward market linkage of cocoon and silk

Production Growth of Silk in India

Year	Total Production in Tones
1951-52	900
1980-81	5041
1984-85	7673
1989-90	11916
1994-95	14579
1998-99	15544
2001-02	17461
2002-03	16211

Source: Compendium of Statistics of Silk Industry by CSB & CSB Reports.

World's total production of raw silk was 56,500 tons in 1938 which has gone up by 36% during the last 53 years. By 2000 the total raw silk production was estimated at 85,000 tones. Although production has been rising gradually, the share of silk in total for all textile fibres remains very low. The value of silk and silk products in international trade however is quite significant, silk being a high value item. India stands second only to China in silk production. But, India has the unique distinction of being the only country in the world producing all the commercially known varieties of

silk - mulberry, Tasar (both tropical and temperate), Eri, and Muga. It ranks second to China as a mulberry silk producer and accounts for about 14% of world production of raw silk. It is also the second largest producer of Tasar silk, again after China. It has the monopoly of world production of golden-yellow Muga silk. India requires 120,000 metric tons of silk to meet the demand in world market and with better infrastructure facility; the sericulture industry can improve its productivity to 15 percent against the current 9%.

The Ministry of Textiles has anticipated that the value of silk export earnings will reach around Rs.3200 Crore during the year 2006-07. The export of Rs.770.47 Crore has been achieved during April-June period of the year 2006-07, which is 24.1% achievement of the target in rupee terms as compared to corresponding period of the year 2005-06 which was Rs.705.05 Crore. Recently with the export of raw silk from Japan falling drastically, other developing countries are looking to silk as potential foreign exchange earner and taken up programmes for sericulture development.

Historical Background

Sericulture and the weaving of silk have been practiced in China from a remote period. Legend dates this back to 2800 BC, to Empress Si Ling-chi, who not only encouraged the culture of the silkworm but also developed the process of reeling from the cocoon. This was a closely guarded secret for more than 2000 years. The history of shrouded in mystery. In China, however, legend has it that Empress Si Ling Chi of China sitting under a mulberry tree in her palace garden, the Empress was having tea. A cocoon fell into her hot cup of tea from the branches of the mulberry tree. And as she watched, a strong white thread unraveled itself. That accidental process of unraveling the silk worm's cocoon hasn't changed much in the last thousands of years. Cocoons are still dipped in hot water to loosen the tightly woven filaments that make up a silk worm's cocoon.

By the 14th century BC, the production of silk gradually developed into an industry in China. In fact, it became one of the principal elements of the Chinese economy. Silk

was being used for musical instruments, fishing-lines, bowstrings, and even rag paper, the world's first luxury paper.

For more than two thousand years, the Chinese kept the secret of silk to themselves. It was one of the most zealously guarded secrets in history. Anyone found guilty of smuggling silkworm eggs, cocoons, or mulberry seeds was put to death. Silk became the cloth of emperors and royalty and a great source of wealth. Common people were prohibited from wearing silk in China.

It was only as late as the 13th century AD, that Italy began silk production, with the skilled silk weavers from Persia. Eventually, silk production became widespread in Europe, but the widespread production of silk hasn't dented China's image as the Silk Giant. Even today, five thousand years after the first cocoon fell into the Empress' teacup; China is still the world's largest producer of silk.

Silk Prospect in Jharkhand

The state of Jharkhand is blessed with huge natural resources such as minerals, forests, water resources, energy resources, fertile land etc. It is also gifted with relatively moderate climate, good rainfall, good rail and road communication, technical educational facilities, research laboratories, management institutes, etc. With a view to inculcate rapid growth in industrial sector, such industries which aim to exploit natural resources available in Jharkhand and which can generate employment for local inhabitants are being classified as thrust area of Industrial development of state. One of them is Sericulture. It constitutes rearing of silkworms, production of cocoons, extracting silk yarn through cocoons and weaving fabric by using silk yarn.

Once a hub for Tasar Silk, Jharkhand looks up for revival of this famous product. Before the state's creation, the region used to play a major role in enabling Bihar to contribute 50 per cent of the nation's total raw silk production.

Tasar Silkworm rearing is one of the important segments of traditional forest based livelihoods in Jharkhand. Most of the tribes have been the rearers of silk worms in

Jharkhand. The agriculture is the primary livelihood of these people. However considering low yield of paddy in the rain fed areas, people looks for additional livelihood opportunities. Tasar rearing starts after the agriculture season i.e. October - November, when the opportunity cost of labour remains low. The Seeds for Tasar are gathered through indigenous means. However the traditional rearing of Tasar is becoming increasingly un-remunerative for rearers due to non-availability of good quality Tasar seeds, declining forest cover, increasingly stringent Forest regulations curbing the access of traditional rearers over forests, low productivity levels and complete absence of cocoon processing sector to offer fair prices for Tasar cocoons.

Another important segment is Tasar yarn spinners, reelers and fabric weavers. Majority of the Tasar weavers belong to Muslim or lower caste Hindu communities. All the activities of this segment are to be carried out round the year to earn livelihood for the whole family.

Out of 79714 sq KM of total land area of Jharkhand, 23605 sq KM (30%) is forest area. The forest is covered with Tasar food plant; out of which 90 per cent is Sal trees and rest are Asan and Arjuna trees, which attract silk worms. Out of 9 lakh hectares of forest available for Tasar cultivation presently only 66520 hectares is being utilized for the production of Tasar, and 78.37 hectares for Mulberry 16, which is only 7.4% of the total forest available. About 65000 families are involved in traditional Tasar cultivation. With the help of these traditional Tasar cultivators, govt. is planning to increase the production of Tasar from 125 Tones to 650 Tones per year within next five years. To achieve this target, Sericulture Directorate, government of Jharkhand has established 28 Pilot Project Centers at different districts of Jharkhand, out of which 03 Pilot Project Centers are for the development of Mulberry Silk.

With a view to inculcate rapid growth of Silk Industry, which aim to exploit natural resources available in Jharkhand and can generate employment for local inhabitants, govt. of Jharkhand had established the Jharkhand Sericulture Technology Development Institute (JSTDI) at Chaibasa and Jharkhand Sericulture Development Institute (JSDI) at Ranchi, for providing training to entrepreneurs for the development of Silk Industry in Jharkhand. Presently the post cocoon technology in Jharkhand is in infancy stage.

STATUSE OF SILK SECTOR IN JHARKHAND (2011-2012):

No. of Sericulture villages	5000
Area of Mulberry food plants	500 Acers
Area of Tasar food plants	900000 Hectares
Quantity of Mulberry raw silk Quantity of Tasar raw silk	2.5 MT
Total no of govt. pilot centers	1025 MT
Expected production of Tasar raw silk by the end of March 2012	1.25 Lack
Employment	Expected 2 Lack

Source: Sericulture Directorate, govt. of Jharkhand

Under National development plan, the Central Silk Board has selected Jharkhand for a Rs.383 Crore Silk development plan in next 10 years in collaboration with the state government 19. Apart from this government is planning to establish Jharkhand Silk Textile & Handloom Development Corporation to develop silk trade in Jharkhand. A training centre in collaboration with National Institute of Fashion Technology (NIFT) Kolkata has been opened at Amda village of Saraikala district, and another is expected shortly in Godda district in collaboration with National Institute of Design (NID) Ahmedabad. The institutes will provide training for reeling, spinning, weaving, designing, coloring, printing and computer-based designing for Silk Industry.

Conclusion:

The success of silk industry depends mainly on three basic resources i,e, food plants, man power and silkworm seeds. Jharkhand, by virtue of nature is, rich in two resources viz man power and available food plants. Presently out of 9 lakh hectare forest available for Silk cultivation, only 7.4% i,e, 66678 hectare are being used. Hence there is a grate scope for the development of Silk industry in this state.

All the efforts taken by the govt. of Jharkhand and CSB Bangalore to provide better quality Silkworm seeds (DLFs) to produce good quality Silk, are with a view to ensure attractive price and to provide protection for Tasar cocoon cost. Simultaneously it is also trying to establish post cocoon processing units in all such district to promote Tasar

yarn production activities with involvement of rural women to generate demand for cocoon and create fairer trade mechanism in Tasar sector. Also through this it is trying to check migration of weavers. Through this the government will be able to uplift the rural tribal population of Jharkhand, by providing them additional scope for livelihood. Now it seems possible that, once a hub for Tasar silk, Jharkhand will again gain its old glory, and establish itself on the silk map of India.

References:

Compendium of Statistics of Silk Industry by CSB & CSB Annual Reports 2011-12

Dewangan, Santosh. (2017). BIO-DIVERSITY CONSERVATION AND EMPLOYMENT GENERATION BY SERICULTURE AT- RAIGARH (C.G.) INDIA. Int. J. Adv. Res. 5(11),pp- 1480-1488.

H H Ninga Setty, Lasya Gopal and Janakaraja Murali Report on "Evaluation of the Impact of Sericulture Programme Implemented by Industries 11th and 12th five year in the State of Jharkhand" submitted to Department of Directorate of Handloom, Sericulture & Handicraft Department of Industries. Government of Jharkhand

Knibbs, G. H. (1920). The Organisation of Imperial Statistics. Journal of the Royal Statistical Society, 83(2), 201–224.

Ramalaxmi, C.S [2007]: Potential for participation of women in Sericulture sector. March 16.

Setty, H. H. N., Gopal, D. L., & Chinnaswamy, P. K. P. (2016). Empowerment of tribal communities through sericulture programmes in Jharkhand State. IJRDO - Journal of Social Science and Humanities Research (ISSN: 2456-2971), 4(2), 23-30.

Shetty, K.K. et.al [2007]: Vanya Silks of India-Exploring New Horizons, September 21. 3.

Internet Source:

https://textilelearner.net/prospects-of-silk-industry-in-india

https://en.wikipedia.org/wiki/Silk

https://csb.gov.in/

https://www.jharcraft.in/sericulture/

https://jharkhandindustry.gov.in/directorate-sericulture

http://lyen.com/.cpanel-datastore/jqqgzmh/how-is-silk-made-in-china-today

https://www.pitara.com/science-for-kids/5ws-and-h/what-is-the-origin-of-silk-fabric/

https://thaisilkandscarf.com/history-of-thai-silk

शैलेन्द्र के गीतों में जीवन दर्शन

डॉ. बलवंत वसंत जेऊरकर*

balwantjeurkar75@gmail.com

रावलपिण्डी से मथुरा और मथुरा से परेल आते-आते जीवन ने महान गीतकार शैलेन्द्र को कई अनुभव दिए। वैसे देखा जाए तो बहुत सारे अनुभव दुःख देनेवाले ही थे लेकिन इन दुःखों की चोटों से उभरा हुआ था शैलेन्द्र जी का कवि व्यक्तित्व। इन अनुभवों के जरिए जीवन के प्रति एक नजरिया बन गया। यह नजरिया जीवन दर्शन में रूपांतरित हुआ।

शैलेन्द्र के जीवन को केंद्र में रखकर लिखे गीतों को देखा जाए तो उनके जीवन दर्शन का सार-संक्षेप कुछ इस प्रकार है - 1) जीवन क्षणैक तथा निःसार है।, 2) प्रेम से ही जीवन को सँवारना है। 3) एक दिन सबको उस पार जाना है। 4) अंधेरा हो तो दीपक जलाना है।

यही बातें बार-बार रूप बदलकर जीवन-दर्शन के रूप में उनके गीतों में आती रहती हैं। शैलेन्द्र के गीतों के अनुभूति पक्ष में अन्य पहलू या विषयों की तुलना में उनका जीवन-दर्शन का पहलू बहुत ही सशक्त और उम्दा है। इन गीतों को देखने के बाद शैलेन्द्र दार्शनिक के रूप में नजर आते हैं। 'आवारा' (1951) से 'तीसरी कसम' (1966) तक के गीतों में उनका दार्शनिक व्यक्तित्व कम-अधिक मात्रा में झाँकता दिखाई देता है। गीतकार के रूप में आरंभ से ही जीवन-दर्शन का आलोक फैला हुआ है।

जीवन-दर्शन उनके गीतों में अनायास आया है। इसको दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है - एक वह गीत हैं जिनमें एकाध पंक्ति में जीवन के प्रति दृष्टिकोण प्रकट हुआ है और दूसरे वह गीत हैं जिनमें आद्यंत जीवन-दर्शन से आकंठ है। इन दोनों हिस्सों में शैलेन्द्र के गीत लाजवाब हैं।

'बरसात' के बाद दूसरी ही फिल्म 'आवारा' में मल्लाहों के गीत 'नैया तेरी मझधार होशियार' गीत में उन्होंने

'काठ का टुकडा बह जाता है, लोहा डूबके रह जाता है / ज्ञानी सोच विचार'

पंक्तियाँ लिखकर जीवन जीने की सीख देना आरंभ कर दिया था। क्या ये पंक्तियाँ किसी संत वचन से कम हैं ? इसी वर्ष आई फिल्म 'बादल' के लिए उन्होंने 'दो दिन के लिए महमान यहाँ, मालूम नहीं मंजिल है

* **एसोशिएट प्रोफ़ेसर, हिंदी विभाग, विलिंग्डन महाविद्यालय, सांगली (महाराष्ट्र)**

कहाँ' गीत लिखकर अपने जीवन-दर्शन की दिशा प्रदर्शित की थी। 1952 में आई 'संस्कार' फिल्म के गीत में वे मानव को हिम्मत जुटाने की सोच देते हुए लिखते हैं -

'जीनेवाले, ओ मतवाले, जिंदगी से प्यार कर / यूँ न बैठ जिंदगी में जिंदगी से हार कर'

यहाँ कुछ पंक्तियों में जीवन के प्रति दृष्टिकोण नजर आता है लेकिन अवसर मिलते ही फिल्म की कहानी के अनुरूप वे अपने दृष्टिकोण का विस्तार करते हुए भी नजर आते हैं ; जैसे 'पूनम' (1952) फिल्म का यह गीत -

दो दिन की जिंदगी में दुखडे हैं बेशुमार / है जिंदगी उसीकी जो हँस हँस के दे गुजार

है धूप कहीं छाया, ये जिंदगी की रीत / है आज तेरी हार तो फिर कल है तेरी जीत

हर साँस तुझसे बस यही कहती है बार-बार

मरने के सौ बहाने, जीने को सिर्फ एक / उम्मीद के सुरों में बजते हैं दिल के तार

उभरेंगे फिर सितारे, चमकेगा फिर से चाँद / उजडे हुए चमन में आएगी फिर बहार

कहने की आवश्यकता नहीं कि पूरा गीत जीवन के प्रति विश्वास का और उम्मीद का दामन ना छोडने का सहज उपदेश देता है। यह गीत ही शैलेन्द्र का जीवन-दर्शन है। जीवन के प्रति उनके उपरोक्त विचार थोड़े-बहुत फर्क से कई गीतों में प्रकाशमान हुए हैं।

कुछ गीत तो अध्यात्मिकता से इस तरह लबालब भरे हैं जिनको सुनकर शैलेन्द्र के गीतकार से ज्यादा दार्शनिक होने का बिंब तीव्रता से सामने आता है। 1953 में आई 'आह' फिल्म का मुकेश ने गाया और उन्हीं पर फिल्माया यह गीत इस बात की गवाह है -

'छोटी सी ये जिंदगानी रे / चार दिन की जवानी तेरी / हाय रे गम की गहानी तेरी'

गीत के दोनों अंतरे परमात्मा से मिलन के, अंतिम सत्य तर पहुँचने के मार्ग में सतर्क, सावधान रहने के लिए आगाह करते हैं। पूरा गीत अपनी प्रतीकात्मकता में अध्यात्म की ही बात करता है -

'शाम हुई ये देस विराना / तुझको अपने बलम घर जाना/ सजन घर जाना

राह में मूरख मत लुट जाना

बाबुल का घर छूटा जाए / अँखियन घोर अंधेरा छाए

आँख से टपके दिल का खजाना

जैसा कि आरंभ में ही बताया है कि कुछ गीतों में एक पंक्तिभर में जीवन को सूत्र की तरह रेखांकित किया गया है जैसे 'श्री 420' (1955) फिल्म के 'मेरा जूता है जापानी' गीत में **'चलना जीवन की कहानी, रुकना मौत की निशानी'** पंक्ति जैसे सफल जीवन की कुँजी है।

मनुष्य के जन्म के साथ उसके मृत्यु का दिन भी निश्चित होता है। शैलेन्द्र भी इस बात परिचित हैं और उन्होंने इस सत्य को गीत में भी पिरोया है। 1953 की फिल्म 'पतिता' के 'अंधे जहाँ के अंधे रास्ते, जाए तो जाए कहा' गीत के अंतिम अंतरे में उन्होंने लिखा है -

'आगाज के दिन तेरा अंजाम तय हो चुका, जलते रहे हैं, जलते रहेंगे ये जमी आस्माँ'

इसी फिल्म का अंग्रेजी कवि शेली की काव्य पंक्ति के अनुसार लिखा गीत भी मशहूर है। 'है सबसे मधुर वो गीत, जिसे हम दर्द के सुर में गाते हैं।' लेकिन इस पंक्ति के बाद पूरे गीत में शैलेन्द्र का जीवन-दर्शन भरपूर मात्रा में अवतरित है -

'जब गम का अंधेरा घिर आए समझो कि सवेरा दूर नहीं/ हर रात का है पैगाम यही, तारे भी यही दोहराते हैं

काँटों में खिले हैं फूल हमारे रंग भरे अरमानें के / नादाँ हैं जो इन काँटों से दामन को बचाए जाते हैं'

गीत की पंक्तियाँ जीवन की सूक्तियाँ हैं जिससे सभी को प्रेरणा मिल सकती है। संकटों में हौसला बढ सकता है। शैलेन्द्र ने जीवन के सभी पहलुओं को देखा था, परखा था। गीतों में जीवन का रूप बतलाना जैसे उनकी कलम की आदत में शुमार था। 1954 की फिल्म 'भाई साहब' में जीवन को डगर मानकर उन्होंने लिखा है - **'उँची-नीची, उँची-नीची डगर जीवन की/ चलना सँभलकर प्यारे'**

फिल्म 'सीमा' (1955) भारतीय फिल्मों में अपना अलग मकाम बनाए हुए है। इसके गीत भी अर्थवत्ता से भरपूर हैं। फिल्म में शैलेन्द्र के जीवन विषयक अपने विचार अभिव्यक्त करने के लिए पूरा अवसर मिला है।

'कहाँ जा रहा है तू, ऐ जानेवाले/ अंधेरा है मन का, दीया तो जला ले'

यह गीत गुरु का शिष्य को उपदेश प्रतीत होता है जो आत्मज्ञान का दीया जलाने की बात करता है। इसी गीत में जीवन को सफर मानकर शैलेन्द्र ने लिखा है -

'ये जीवन-सफर एक अँधा सफर है / बहकना है मुमकिन भटकने का डर है'

पूरा गीत मनुष्य जीवन के अस्तित्व, उसकी नियति और पथ प्रदर्शन से भरा है। अंधेरे में दीपक जलाने की बात शैलेन्द्र ने बार-बार कही है -

'जिसने मन का दीप जलाया, दुनिया को उसने ही उजला पाया' (जागते रहो 1956).

'सीमा' फिल्म में ही प्रार्थना के रूप में लिखे 'तू प्यार का सागर है' गीत में भी शैलेन्द्र ने मनुष्य जीवन की क्षणभंगुरता और उससे उत्पन्न दुविधा को कुछ इस तरह अभिव्यक्त किया है -

'इधर झूमके गाए जिंदगी, उधर है मौत खड़ी/ कोई क्या जाने कहाँ है सीमा, उलझन आन पडी'

जीवन-मृत्यु के इसी सफर में उन्होंने मनुष्य को मुसाफिर माना है। 'मुसाफिर' (1958) के एक गीत में जीवन का यह अटल सत्य इस प्रकार अभिव्यक्ति पाता है - 'एक आए, एक जाए मुसाफिर, दुनिया एक सराय'

शैलेन्द्र ने जीवन को कभी डगर, कभी सफर तो कही कभी सराय कहा है। लेकिन 'जागते रहो' (1956) फिल्म में एक शराबी के लिए उन्होंने गीत लिखा तो 'जिंदगी ख्वाब है' हो गई। जीवन के दो पहलू मानकर 'हरियाली और रास्ता' भी माना है।

फिल्म 'सूरत और सीरत' का गीत जीवन जीने के सन्मार्ग की सीख के अलावा कुछ नहीं है -

'बहुत दिया देनेवाले ने तुझको, आँचल ही ना समाए तो क्या कीजै

बीत गए जैसे ये दिन रैना, बाकी भी कट जाए दुआ कीजै'

मालिक ने दिया हुआ कबूल करके, काँटों में फूल खिलने की उम्मीद जगाते हुए शैलेन्द्र आगे लिखते हैं -

'देंगे दुख कब / तक भरम के ये चोर / अरे ढलेगी ये रात प्यारे, फिर होगी भोर

कब रोके रुकी है, समय की नदिया/ घबराके यूँ गीला ना कीजै'

शैलेन्द्र के गीतों में 'उस पार' जाने का संदर्भ बार-बार आता है। और जानेवाला लौट के नहीं आता यह तथ्य तो सर्वश्रुत है। फिल्म बंदिनी (1963) के **'ओ जानेवाले हो सके तो लौट के आना'** गीत में यह तथ्य कुछ इसप्रकार अंकित हुआ है -

'दे दे के ये आवाज कोई हर घड़ी बुलाए /फिर जाए जो उस पार कभी लौट के न आए

है भेद ये कैसा कोई कुछ तो बताना....'

जीवन के इस अटल सत्य से आम आदमी घबरा भी सकता है, लेकिन शैलेन्द्र का 'राही तू मत रूक जाना, तूफाँ से मत घबराना' (दूर गगन की छाँव में - 1964) गीत तसल्ली भी देता है -

'माना कि गहरी है धारा, पर है कहीं तो किनारा/

तू भी मिला आशा के सुर में, मन का ये इकतारा'

फिल्म 'गाइड' (1965) में **'वहाँ कौन है तेरा'** गीत में शैलेन्द्र फिर एक बार निस्सार जीवन की कहानी कहते हैं

'कहते हैं ज्ञानी, दुनिया है फानी, पानी पे लिखी लिखाई

है सबकी देखी, है सबकी जानी, हाथ किसीके न आई

कोई तेरा न मेरा, मुसाफिर जाएगा कहाँ ?'

जीवन के इस तथ्य से विरक्त होकर बैरागी बनने की बात भी शैलेन्द्र को मंजूर नहीं है, उन्होंने तो 'जाओ रे जोगी तुम जाओ रे' (आम्रपाली 1966) कहकर जोगियों को फटकारा है। प्रेम ही सच्ची पूजा मानकर प्रेम, जीवन और ज्ञान के बारे में शैलेन्द्र ने आगे दो टुक बातें लिखी हैं -

'प्रेम की पीड़ा सच्चा सुख है/ प्रेम बिना ये जीवन दुख है

जीवन से कैसा छुटकारा / है नदिया के साथ किनारा

ज्ञान की कैसी सीमा ज्ञानी/ गागर में सागर का पानी'

'अनाडी'(1959) फिल्म का एक गीत बहुत मशहूर है।इस गीत को जिसने समझा उसने जीवन जीने की कला को समझा।यह गीत अधिक विश्लेषण की मांग नहीं करता -

'किसी की मुस्कुराहटों पे हो निसार/ किसीका दर्द मिल सके तो ले उधार

किसी के वास्ते हो तेरे दिल में प्यार/ जीना इसीका नाम है।'

मिटे जो प्यार के लिए वो ज़िंदगी/जले बहार के लिए वो ज़िंदगी/किसी को हो न हो हमें है ऐतबार

रिश्ता दिल से दिल के ऐतबार का/ज़िंदा है हमीं से नाम प्यार का/ कि मर के भी किसी को याद आएंगे/किसी के ऑंसुओं में मुस्कुराएंगे/कहेगा फूल हर कली से बार-बार.....जीना इसीका नाम है।'

यह गीत शैलेन्द्र ने दिया हुआ जीवन का मूलमंत्र है। हँसकर जीवन गुजारने की बात शैलेन्द्र के कई गीतों में आती है। 'पतिता' फिल्म के 'है सबसे मधुर वो गीत' के अंतिम अंतरे में उन्होंने यही बात लिखी है -

'पहलू में पराए दर्द बसा के हँसना, हँसाना सीख जरा

तूफाँ से कह दो घिर के उठे, हम प्यार के दीप जलाते हैं'

फिल्म 'तीसरी कसम' (1966) का **'सजन रे झूठ मत बोलो, खुदा के पास जाना है'** गीत शैलेन्द्र के जीवन-दर्शन की ही नहीं तो पूरे गीत-संसार की पराकाष्ठा है। बहुत ही सरल शब्दों में उन्होंने जीवन विषयक अनुभूति को वाणी दी है -

'भला कीजे भला होगा, बुरा कीजे बुरा होगा /वही लिख-लिख के क्या होगा, यहीं सब कुछ चुकाना है।'

शैलेन्द्र के गीतों में अभिव्यक्त जीवन-दर्शन अंधेरे में उजाला भरने का, निराश मन में हौसला जगाने का, झकझोर कर जगाने का, जो प्राप्त है वह पर्याप्त है मानने का संदेश देने और आपस में प्रेम जगाने का महान कार्य करता है। ये गीत जीवन जीने की सीख देते हैं और जब तक जीवन है तब तक प्रेम से व्यवहार करने की पते की बात करते हैं। सबसे बड़ी बात यह कि ये गीत दुःख, दर्द या गम से भागने की नहीं तो उसको गले लगाने की हिम्मत को जगाते हैं। शैलेन्द्र के जीवन की ओर देखने के सकारात्मक दृष्टिकोण के प्रतिबिंब ही हैं उनके अमर गीत।

संदर्भ :

1. तिवारी, ब्रजभूषण. (2013). गीतों का जादूगर शैलेंद्र. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.

2. पाडळकर, विजय. (2017). सुहाना सफर और .... पुणे : रोहन प्रकाशन.

3. माहेश्वरी, डॉ. ओंकारप्रसाद. (1978). *हिंदी चित्रपट का गीति-साहित्य.* आगरा: विनोद पुस्तक मंदिर. पृ. 26

4. आत्मसिद्ध, नंदिनी. (1997). *गीतकार.* मुंबई : लोकवाङ्.मय प्रकाशन पृ. 96

स्त्री विमर्श में पितृसत्ता की भूमिका

क्षमा*

smilly.tripathi08@gmail.com

मानव सभ्यता का विकास स्त्री और पुरुष से मिलकर हुआ है। इनमें से स्त्री या पुरुष किसी भी एक के न रहने पर यह सभ्यता समाप्त हो जायेगी। संसार से मानव सभ्यता समाप्त न हो इसके लिए स्त्री पुरुष दोनों अपनी भागीदारी निभाते हैं। इस स्थिति में कोई एक निचले या कोई ऊँचे दर्जे का नहीं है। स्त्री बच्चे को जन्म देती है। उसका पालन-पोषण करती है। पुरुष उनके खाने-पीने और उनकी सुरक्षा का प्रबंध करता है। परन्तु सामाजिक व्यवस्था में स्त्री निम्न तथा पुरुष उच्च स्थान पर दिखाई देते हैं। स्त्री विमर्श मानता है कि पितृसत्ता ने बड़ी चालाकी से स्त्रियों के लिए इस व्यवस्था के माध्यम से अधीनीकरण का रास्ता निकाला। स्त्री विमर्श ने पहला काम यह किया ''कि महिलाओं को अधीन करने वाली जटिल संरचना को पहचाना जाए। इस प्रकार, बीसवीं सदी के आठवें दशक के मध्य से नारीवादी विशेषज्ञों ने पितृसत्ता शब्द का प्रयोग और उसे विशिष्ट अर्थ में परिभाषित करना शुरू किया।''[1]

वी- गीथा ने पितृसत्ता के अनेक रूपों का वर्णन किया "When a man raises his voice in the course of an argument and insists on his point of view, without letting others who are party to thhat conversation, especially women get a word in, his action are likely to be described a 'aggressively patriarchal.' If a women alleges sexual harassment at her workplace and all the men in her office deny that his could ever happen, chances are that she might describe their reasoning as being 'typically patriarchal.' In political speeches them declaim the universal subordination of women, the word 'patriarchy' is likely to figure frequently–as a catch all word to describe the diverse ills that women suffer from.... the absolute rule of the father or the eldest male member over his family.2

"Patriarchy is a social system in which the father or oldest male is head of the household having authority over women and children. Patriarchy also refer to a system of the government by the male and the dominance of men in social or cultural system it may also include title being traced through the male line."3

(पितृसत्ता वह व्यवस्था है जिसमें घर का पिता या सबसे वृद्ध पुरुष घर का मुखिया होता है। औरतों और बच्चों पर उसका पूरा अधिकार होता है। पितृसत्ता एक सरकारी व्यवस्था का नाम है जो किसी एक

* पीएच. डी., शोधार्थी, हिन्दी विभाग, जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली

सांस्कृतिक या सामाजिक अवस्था में किसी एक पुरुष या अनेक पुरुषों के अधिकार की बात करता है। जिसमें पुरुष वर्ग के छोटा से छोटा बच्चा भी अधिकार के भागीदार में शामिल है।)

प्रत्येक पुरुष नारी पर नियंत्रण नहीं रखता और न ही प्रत्येक नारी पुरुष के अधीन है। समाज में स्त्रियों की स्थिति देखने से पितृसत्ता का स्वरूप समझ में आता है। समाज की आम धारणा यही है कि पुरुष औरत से श्रेष्ठ है। पुरुषों का महिलाओं पर नियंत्रण है तथा महिलाएँ पुरुषों की सम्पत्ति है। पितृसत्ता का स्वरूप सर्वत्र एक सा नहीं है। जहाँ असम और मिजोरम में पितृसत्ता का अलग स्वरूप है वहीं केरल में उससे भिन्न है। वास्तव में जाति समाज में पितृसत्ता का कट्टर स्वरूप देखने को मिलता है। मध्यवर्ग की औरतें पितृसत्ता की प्रताड़ना अधिक सहती हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है कि यह अधिकार किस प्रकार का होता है\ और किस चीज पर होता है\यह अधिकार स्त्री के यौनिकता, श्रम से प्राप्त पूँजी तथा उसके हर एक कार्य पर होता है जिसमें उसके कार्य, रहन-सहन, सोच-विचार सब कुछ शामिल हैं। पितृसत्ता में जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त स्त्रियों पर पुरुष का अधिकार होता है। जब वह शिशु होती है तो पिता के संरक्षण में रहती है, विवाहोपरान्त पति के संरक्षण में तथा बूढ़ी होने पर बच्चों (जो कि पुरुष ही होंगे) के संरक्षण में रहती है। मनु महाराज ने मनुस्मृति में लिखा है-

''बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहणस्य यौवने।
पुत्रणां-भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम्।।
बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता
न स्वातन्त्रैण कर्तव्य किंचित कार्य गृहेष्वापि।''

पितृसत्ता पैत्रिकवाद का विकसित रूप है। पितृसत्ता व पैत्रिकवाद में पिता द्वारा अपने बच्चों का भरण-पोषण शामिल है क्योंकि बच्चे व औरतें अपनी रक्षा व भरण-पोषण में कमजोर हैं इसलिए उन्हें पिता के संरक्षण में रहना चाहिए। जेंडर और सेक्स की विभेद नीति भी यही कहती है। सेक्स जहाँ जैविकीय अवधारणा को प्रकट करता है वहीं जेंडर सांस्कृतिक। संस्कृतियाँ स्त्री-पुरुष में विभेद करती हैं।

जैविक निर्धारणवाद 'प्राकृतिक है इसलिए जायज है' के जुमले को अलापता है। स्त्रियों के प्रति पुरुषों का रवैया सदा ही उसे अपने से निम्न समझने का रहा है। स्त्रियाँ चाहे कितनी ही बुद्धिमान हों, कार्यकुशल हों उन्हें वह दर्जा नहीं मिलता जो पुरुषों को प्राप्त है। पितृसत्ता स्त्रियों को साम, दाम, दण्ड, भेद किसी भी नीति से अपने कब्जे में रखना चाहता है।

संसार में पुरुष और स्त्री दोनों की स्थिति का आकलन करने पर पता चलता है कि पुरुष मुखिया और स्त्री दोयम दर्जे की इन्सान बन गई है। वह दोयम दर्जा न तो जीव विज्ञान, शरीर शास्त्र से सम्बन्धित है न ही ईश्वर प्रदत्त या प्राकृतिक। बल्कि यह दर्जा सदियों से चली आ रही परम्परा के रूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को

हस्तांतरित होता रहता है और एक सोच कि स्त्रियाँ कमजोर हैं, भावुक हैं, वह पुरुषों के समान कार्य नहीं कर सकतीं का परिणाम है। कई विद्वान इसे पुरुषों की सत्ता की लालसा का रूप देते हैं। फ्रेडरिक एंगेल्स मानते हैं कि ''आरंभिक मानव समतावादी थे उनमें औरत और मर्द के बीच एक सरल और क्रियात्मक श्रम विभाजन था। एक शुद्ध और सरल नैसर्गिक विकास। पुरुष शिकार करता था, मछली पकड़ता था। भोजन सामग्री इकट्ठा करता था। इन कार्य भारों को सम्पन्न करने के लिए उसने जरूरी औजार बनाये थे। औरतें घर संभालती थीं भोजन और वस्त्र तैयार करती थीं बच्चों की देखभाल करती थीं।''[4]

फ्रेडरिक मानते हैं कि साम्यवादी परिवार में स्त्री मुखिया थी। वह अपनी मर्जी से यौन सम्बन्ध बना सकती थी। पूरे घर पर उनका नियंत्रण था। यौन सम्बन्ध के विषय में वह अधिक आजाद थी। वे जिससे चाहे सम्बन्ध बनाती थीं और जिसे चाहे इनकार कर सकती थीं। परन्तु आज उसकी स्थिति बदल चुकी है। इस बदलाव की स्थिति के पीछे विद्वान अलग-अलग कारण मानते रहे हैं। एंगेल्स मानते हैं कि जब मानव समूह एक ही जगह पर रहने लगे और सम्पत्ति संचित करने लगे। अब दैनिक आवश्यकता प्रतिदिन की समस्या नहीं रह गई थी। अब मानव जाति खाद्य सामग्री का संयम करने लगी थी। इसी के चलते समाज में दो वर्गों का उदय हुआ मालिक और गुलाम। ''धीरे-धीरे जैसे ही समुदाय में सम्पत्ति का संचय हुआ स्त्री पुरुष के सम्बन्ध भी बदले, क्योंकि सारी सम्पत्ति उत्पादन का परिणाम थी-बुनियादी रूप से मर्द की कार्यवाही। घरेलू कार्य और कुटुम्ब का महत्त्व, जहाँ स्त्रियाँ पुरुषों पर शासन करती थीं, खो गया।''[5]

स्त्री जब एक ही व्यक्ति की सम्पत्ति बनकर रह गई तब बच्चों पर उसका नियंत्रण भी ढीला हो गया। इससे पहले बच्चे माँ की विरासत संभालते थे बाप की नहीं-आज तो पितृसत्ता का ही बोलबाला है। माता द्वारा प्राप्त विरासत को मातृअधिकार समझा जाता था। परंतु जब कुटुम्ब में औरतों की प्रतिष्ठा छिन गई तब मातृअधिकार भी शनैः शनैः विलुप्त हो गये। कुछ काल के बाद बच्चे अपने गौरव और विरासत पिता के जरिए प्राप्त करना सीखने लगे। जब तक सामुदायिक जीवन में स्त्री और उसका कुटुम्ब केन्द्र बिन्दु नहीं रह गये थे। और मर्द का उसके घर का और उसकी सम्पत्ति का महत्त्व बढ़ गया था। अब समुदाय का नेता था। इस तरह पितृसत्ता का अस्तित्व सामने आया। पितृसत्ता के आते ही स्त्रियों की स्थिति बदलने लगी। वे अब उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं रह गईं उनके कार्यों का महत्त्व घट गया और पुरुषों का महत्त्व बढ़ता ही गया। पुरुष जहाँ मुक्त रूप से यौन सम्बन्ध स्थापित कर सकता था स्त्रियों के लिए सतीत्व और पतिव्रत धर्म का पालन करना अनिवार्य बन गया।

एंगेल्स के उक्त तर्क को कुछ आलोचकों ने नकार दिया और कहा कि उत्पादन पर नियंत्रण करने के कारण पुरुष वर्चस्व कायम नहीं हुआ बल्कि इसके विपरीत पुनरुत्पादन पर नियंत्रण ने पुरुषों को ताकतवर बनाया। आगे यह मानते हैं कि स्त्रियों पर पुरुषों का पहला नियंत्रण तब कायम हुआ जब विभिन्न समुदायों के बीच औरतों की अदला-बदली शुरू हुई। विवाह और कर्मकाण्डों में स्त्रियों की अदला-बदली 'उपहार' के रूप में होती थी। यह वर्ग मानता है कि स्त्री का स्थान परिवार के केन्द्र से बदल रहा था। अब उनका परिवार में वह स्थान नहीं रह गया था। यह बदलाव का समय था। इसी समय में स्त्री पुरुष के रिश्तों पर नियंत्रण किया गया।

कुछ विधि निषेध लागू हुए और कुछ जीवन मूल्य बनाकर उनकी स्वतंत्रता पर अंकुश लगाया गया। यहाँ स्त्रियाँ अपनी इच्छा से पुरुषों का चुनाव नहीं कर सकती थीं। अब स्त्रियों को दुल्हन के रूप में, माँगा जाने लगा और पुरुष दुल्हन का भरण-पोषण करने के लिए श्रम देते थे। इस स्थिति में आकर वह एक वस्तु मात्र रह गयी।

जूलियट मिशेल पुरुष सत्ता द्वारा स्त्रियों के नियंत्रण के चार स्तर मानती हैं 'उत्पादन, पुनरुत्पादन, समाजीकरण और लैंगिकता।'

गारडा लरनर पुरातत्व और प्राचीन कानून से प्राप्त साक्ष्य के आधार पर अपनी पुस्तक 'पितृसत्ता की रचना' में स्त्री को विनिमय का साधन समझे जाने के विचार को आगे बढ़ाया और कहा कि यह केवल औरत की दासता एवं वस्तु बनाना ही नहीं था अपितु उसकी लैंगिकता एवं प्रजनन की क्षमता का भी वस्तुकरण था।

स्त्री की पराधीनता और उस पर पुरुष के नियंत्रण को बरनर निम्न प्रकार से विवेचित करती हैं-

'1-अपहरण और यौन गुलामी की जटिल प्रक्रिया के जरिए पुरुष ने स्त्री की भौतिक तथा पुनरुत्पादक क्षमता पर कब्जा जमाया।

2- औरतों के विनिमय और अपहरण ने उनकी संतान के नियंत्रण की आधारभूमि तैयार की। स्त्रियों और बच्चों पर बड़े-बूढ़ों के नियंत्रण ने और भावी पीढ़ियों के लिए संसाधनों के सुरक्षा की इच्छा ने निजी सम्पत्ति के उदय में प्रेरक का काम किया होगा।

3- बाद में, खेतीबाड़ी के विकास और राज्यों की स्थापना के साथ पितृसत्ताक परिवार संस्था को बनाए रखने के लिए कानून और वैधानिक नियमों का अविष्कार हुआ।'

जब पुरुष ने स्त्रियों पर प्रभुत्व कायम करने का तरीका सीख लिया तब उसने दूसरे गतिशील समुदायों पर भी अपना अधिकार जमाया। इस प्रकार दास प्रथा का जन्म हुआ। आगे-पीछे निजी संपत्ति तथा बड़े पैमाने पर कृषि के विकास के साथ।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था के द्वारा ही समाज का संचालन होता है। यह व्यवस्था जाति समूहों तथा उच्च वर्ग में अधिक है। इस व्यवस्था को बनाये रखने में महिलाओं का बड़ी चालाकी से सहयोग लिया जाता है। और रीति-रिवाजों के नाम पर नैतिक साबित किया जाता है।

संदर्भ :-

1. साधना आर्य & निवेदिता मेनन. *नारीवादी राजनीति सघर्ष और मुद्दे*. जिनी लोकनीता, हिंदी माध्यम कर्यांवयन निदेशालय, नई दिल्ली. पृ. 1
2. पैट्रियार्की वी- गीता, कोलकता
3. feminism from google.com
4. संगीता आनंद. (2001, अगस्त). *वर्तमान संदर्भ*. पृ. 20
5. संगीता आनंद. (2001, अगस्त). *वर्तमान संदर्भ*. पृ. 21

मुस्लिम समाज में परिवार नियोजन की प्रासंगिकता और स्त्री

हुस्न तबस्सुम*

nihan073@gmail.com

प्रस्तावना

इतिहास में दर्ज है कि 568 में फ्रांस के पदरियों ने एक सभा में यह चर्चा रखी कि औरत को इंसान माना जाए या नहीं? अंततः इस निष्कर्ष पर पहुंचा गया कि औरत है तो इंसान मगर उसका अस्तित्व केवल पुरुष की सेवा के लिए ही है। सिमोन द बोउवर का मानना है कि ''आजाद चेतना अपनी मर्जी से वस्तु नहीं बनती। उसे मजबूर किया जाता है। ''इतिहास ये भी उद्यृत करता है कि मातृात्मक समाज धीरे-धीरे पुरुष सत्तात्मक समाज में बदल गया बच्चे के जन्म का श्रेय मर्द के शुक्राणुओं को दिए जाने के कारण परिवार और कबीले से स्त्री का सहज अधिकार खत्म हो गया। समाज में रूढ़ियां और परंपराएं बढ़ती गईं और औरत की हालत बद् से बद्तर हो गई। जहां तक इसलाम की बात है तो दौर-ए-जहालिया में लड़की का जन्म होते ही उसे मार दिया जाता था। कुरान इस तरह की घटनाओं के बारे में पूर्णतः स्पष्ट कहता है-

''और जब इनमें से किसी के बेटी पैदा होने की खुशखबरी दी जाती है तो (मारे रंज के) उसका मुँह काला पड़ जाता है। और जी में घुट कर रह जाता है। बेटी की शर्म के मारे जिसकी पैदा होने को उसको खुशखबरी दी गई है, वह लोगों से मुँह छुपाए। वह सोंचता है कि इस बदनामी को सह कर जीता रहने दे या उसको मिट्टी में गाड़ दे। देखो तो इन लोगों का क्या बुरा इंसाफ है।"

दरअसल कुछ कबीले ऐसे थे जो बेटियों के जन्म लेते ही उनकी हत्या कर देते थे। इस दरिंदगीपुर्ण रिवायत का प्रचलन नोमान बिन तमीम से शुरू हुआ। रिवायत के अनुसार नोमान बिन मुजर ने एक बार बनू तमीम की लड़कियों को मान दिया जिस कारण उन्हें गुस्सा आया और उन्होंने लड़कियों को दफ्न करने की परंपरा की शुरूआत की। धीरे-धीरे इस प्रथा की विस्तार होता गया और अरब के कबीलों में यह प्रथा आम हो गई। कुरैश कबीलों में भी इस प्रथा को अपनाया गया। उस समय इस प्रथा को बड़े ही आदर और सम्मान से देखा जाता था। जब बच्ची 5 - 6 बरस की हो जाती तो बोलने चालने लगती तो उसे अच्चे कपड़े पहनाए जाते। पिता स्वयं उसको ले कर जाता जहां पहले से ही वह एक गढ्ढा खोद आया होता उसी गड्ढे में पुत्री को धकेल देता। वह बच्ची चीखती चिल्लाती रहती। पिता से सहायता मांगती रहती लेकिन क्रूर पिता धेले मार-

* **पी-एच. डी. शोधार्थी, अहिंसा एवं शांति अध्ययन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा**

मार उसे मिट्टी में दफ्न कर देता। फिर वह अपने इस कुकृत्य पर गर्व का अनुभव करता। इसी प्रकार बनी तमीम के केस बिन आसिम नामक एक व्यक्ति ने इसी प्रकार अपनी दस पुत्रियों की हत्या की।

लेकिन इस्लाम के उदय के बाद इस पर पूरी तरह से रोक लगा दी गई। इस्लाम ने यह प्रेरणा दी कि लड़कियों का पालन पोषण पुण्य कार्य है। इससे स्वर्ग मिलता है। इस बारे में तैयब हुसैन लिखते हैं कि ''...ऐसे में कबीलाई मजहब इस्लाम कुछ अर्थों में नारी को लेकर जरूर अपेक्षाकृत प्रगतिशील है जो चौदह सौ साल पहले अस्तित्व में आया। लेकिन यह कह कर उसकी प्रगतिशीलता पर ताले जड़ दिए गए हैं कि वह ईश्वर प्रदत्त है। इसलिए इंसानों द्वारा बदला नहीं जा सकता।''

इस संबंध में अमोरी डी रेनकोट का मत है कि वास्तव में कुरआन की यह मंशा थी कि उन रीति रिवाजों और कुप्रथाओं को खत्म किया जाए जिससे व्यक्ति को किसी समूह का सदस्य मानने के बजाए स्वतंत्र व्यक्ति होने पर जोर दिया जाए। जिससे क़बीलावाद और मातृसत्तात्मकता खत्म हो जाए। मोहम्मद साहब की विशेष देन पुराना सामाजिक ढांचा जो कि खानाबदोश की तरह रह रहा था उसको बदल कर तेजी से बढ़ते हुए व्यापारी और बैंकिंग समुदाय को व्यक्तिवाद की तरफ ले जाना था। इस्लामोदय के बाद पूरा समाज पितृसत्तात्मक होता गया। मोहम्मद साहब की यह इच्छा थी कि महिलाएं समाज में केवल धार्मिक कार्यों में भाग लें। किंतु मक्का में उनके समर्थर्कों में बढ़ती पितृसत्तात्मकता की वजह से मोहम्मद साहब को अरब के लोगों के विरोध का सामना करना पड़ा। रेनकोट लिखते हैं कि मोहम्मद साहब ने लोगों के विरोध के बावजूद नए पितृसत्तात्मक ढांचे को स्थापित किया। दूसरी तरफ महिला की स्थिति सुधारने के लिए व्यक्तिवादी तरीके स्थापित किए। महिलाओं को संपत्ति का अधिकार दिया। इसके बवजूद देखा गया है कि मुस्लिम महिला अपेक्षाकृत अधिक कमजोर और लाचार है। यह बात परिवार नियोजन को भी लेकर साफ स्पष्ट होती है। एक अध्ययन के मुताबिक मुसलमान औरतों के जनन अधिकारों पर धर्म और पितृप्रधान अधिकार का नियंत्रण होता है। आर्थिक पराधीनता और साक्षरता का पिछड़ापन इन बातों ने इस बारे में मुसलमान औररतों की निर्णय शक्ति में बाधा डाली है।

मुस्लिम स्त्री और परिवार नियोजन

मशहूर आलिम और दार्शनिक इमाम ग़ज़ाली (रह.) ने माँ की जान को खतरा होने की सूरत में गर्भपात की इजाज़त दी है और गर्भपात के लिए कई तरीकों को बताया है। यहाँ तक कि स्वास्थ्य खराब होने के आधार पर माँ की खूबसूरती को खतरा हो तो गर्भपात की इजाज़त दी है, इसके लिए शर्त है कि उसके पति से आज्ञा ली गयी हो। कुछ उलमा आयत 23:14 को संदर्भ के रूप में पेश करते हैं और इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि तीन महीने तक के गर्भ को समाप्त किया जा सकता है, क्योंकि क़ुरान ने इस आयत में माँ के गर्भ में शुक्राणु के विकास का वर्णन किया है और इसके अनुसार इसमें जीवन पैदा होने के लिए तीन माह का समय दरकार होता है। फिर भी कई उलमा गर्भपात का विरोध करते हैं। बहरहाल कोई भी इस्लाम में परिवार नियोजन को निषेध

करार नहीं दे सकता है, क्योंकि ये न तो एक पैदा हुए बच्चे की हत्या के बराबर है और न ये गर्भपात है, लेकिन ये अपने वित्तीय संसाधनों के अनुसार गर्भ धारण को रोककर बच्चे के जन्म का नियोजन करना है ताकि उनके जन्म में अंतर हो।

पाकिस्तान सरकार अपने यहां पूरा परिवार नियोजन विभाग चलाती है। स्वास्थ्य मंत्रालय के तहत कार्यक्रम ''बराए बहबूदे परिवार' नामक एक विभाग का गठन किया गया है जिसके लिए सरकार हर वर्ष करोड़ों रुपए का बजट स्वीकार करती है। पाकिस्तान के महिला संगठनों का कहना है कि पाकिस्तान का मध्यम वर्ग इस कार्यक्रम में गहरी आस्था रखता है। सिंध में जमींदार इसके विरोधी हैं, क्योंकि उन्हें अपने खेतों में मजदूरी के लिए अधिक बच्चे चाहिए। पाकिस्तान में कृषि अधिकतर बच्चों की मजदूरी पर अवलम्बित है, इसलिए वे परिवार नियोजन को इस्लाम विरोधी प्रचारित करते हैं। पाकिस्तान सरकार के मंत्री भी अब इस अभियान के पक्ष में बोलने लगे हैं। गर्भ निरोधक सामग्री बड़े पैमाने पर जनता में वितरित की जाती है। पिछले दिनों एक चीनी कम्पनी के साथ प्रतिमाह गर्भ निरोधक आयात करने का समझौता भी किया गया है। पाकिस्तान सरकार के परिवार नियोजन के सलाहकारों में चीनी चिकित्सकों एवं सहायकों का अधिक समावेश किया गया है। पाकिस्तान का एक अध्ययन दल इस संबंध में और अधिक जानकारी के लिए चीन गया था ताकि चीनी सरकार द्वारा किए गए जनसंख्या नियंत्रण उपायों का अध्ययन किया जा सके। इस संबंध में अनेक चीनी पद्धतियों को पाकिस्तान के अस्पतालों और परिवार नियोजन केन्द्रों पर प्रचारित भी किया गया है।

दारूल उलूम देवबंद का अभी हाल ही में एक ऐसा सकारात्मक फतवा आया है जिसमें गर्भ निरोधक साधनों के इस्तेमाल को गुनाह मानने की आम मुस्लिम धारणा को पूरी तरह से खारिज करते हुए दारूल उलूम देवबंद ने मुस्लिमों को गर्भ निरोधाकों के उपयोग की इजाजत दी है। देवबंद की ओर से जारी इस फतवे में साफ तौर से कहा गया है कि बच्चों के बीच फासला रखने के लिए गर्भ निरोधक साधानों का इस्तेमाल किया जा सकता है और इसमें कोई बुराई नहीं है। दारूल उलूम के फतवे जारी करने वाली संस्था इता के मौलवियों ने गर्भ निरोधकों के इस्तेमाल को जरूरी बताते हुए यह भी कहा कि गर्भ निरोधकों के अस्थायी तौर पर इस्तेमाल करने की इजाजत है ताकि बच्चों का सही पालन पोषण हो सके और औरतों की सेहत अच्छी बनी रहे। अच्छी बात यह हुई कि इस फतवे का समर्थन जामिया उलेमा-ए-हिन्द ने भी किया है। वह भी दारूल उलूम देवबंद के फतवे का पूरी तरह सहमत हैं।

जहां तक इस्लाम में परिवार नियोजन का सवाल है इस्लाम में परिवार नियोजन का मसला पूरी तरह मौलवियों के नज़रिये पर आधारित है क्योंकि इस विषय में और परिवार नियोजन के उपायों के बारे में कुरान में कुछ नहीं कहा गया है। अलबत्ता कई हदीसें यह साबित करती हैं कि इस्लाम पूर्व से ही अरब में पारम्परिक गर्भ निरोधकों का इस्तेमाल होता था और हज़रत मुहम्मद साहब के समय में भी होता रहा है। जाहिर है कि इसकी जानकारी हज़रत को भी थी मगर उन्होंने सीधे इनका कभी विरोध नहीं किया। इस्लाम के शुरू के दिनों में पैगम्बर साहब ने वक्त क़ी ज़रूरत के मुताबिक परिवार नियोजन की बात कही थी। दरअसल कट्टपंथी मौलाना

पहली हदीस पेश करते हैं पैग़म्बर साहब का वह दूसरा बयान नहीं जिसमें उन्होंने कहा है कि 'आबादी बढ़ने पर उसे नियोजित करना चाहिए।'

स्त्रीरोग विशेषज्ञों का कहना है कि गर्भनिरोध और गर्भपात के बारे में देहातों में मर्दों का प्रभाव अधिक होता है। वहां अधिकतर महिलाएं अपनी राय शायद ही कभी जाहिर कर पाती है। महिलाएं बगैर परि की इजाजत के डॉक्टर से नहीं मिलतीं। पति धर्म के भय से पत्नी को गर्भनिरोध के तरीके अपनाने नहीं देते। ऐसे में पत्नियां बगैर पति से बताए छुपकर भी गर्भनिरोध के तरीके अपनाती हैं। एक अध्ययन से ये भी पता चलता है कि ज्यादह बच्चे जनने से मुसलमान औरतें खुशी महसूस नहीं करतीं। उदाहरण के तौर पर एक बड़े नौकरशाह और जमाते इस्लामी के कार्यकर्ता की पत्नी को ग्यारह बच्चों की मां बनने पर मजबूर किया गया। अंततः परिवार नियोजन के लिए पति की रजामंदी को पाने के लिए उसे शौहर को धमकाना पड़ा कि अगर वह न राजी हुआ तो वह उससे अलग रहने लगेगी। महिलाएं कहती हैं कि मर्द के प्रभुत्व व अज्ञानता के कारण ही परिवार नियोजन अपनाने में बाधा आती है।

प्रायः डॉक्टरों का मानना है कि लड़के की इच्छा दूसरे धर्मों की अपेक्षा मुसलमान परिवारों में कम होती है। यह एक सकारात्मक पहलू है।

6 सितंबर 1998 को जबलपुर में एक सभा का आयोजन किया गया उक्त सभा में आयोग की मेंम्बरान मुस्लिम बस्तियों की भयावह स्थिति को देख कर हिल गईं। बेहद गंदी बस्तियां हसोने के कारण वहां कई तरह की बीमारियों का साम्राज्य था। घर इतने छोटे छोटे थे कि सोने के लिए बारी लगानी पड़ती थी। महिलाएं अधिक बच्चे नहीं चाहती थीं। वे परिवार नियोजन के साधनों का इस्तमाल करना चाहती थीं। लेकिन मर्द इसके लिए राजी नहीं होते। प्रायः स्त्रियां बगैर अपने पतियों से बताए ही परिवार नियोजन का तरीका अपनाती हैं। वहां की स्त्रियों ने आयोग की सदस्यों से कहा कि वे मुल्लों को समझाएं कि परिवार नियोजन में ही देश का भला है।

कुछ साक्षात्कार के दौरान महिलाओं ने एक स्वर में कहा कि वे परिवार नियोजन चाहती है जिससे उनके बच्चों की परवरिश अच्छी हो सके। वे अपने बच्चों को पढ़ाना लिखाना चाहती हैं। अच्छा इंसान बनाना चाहती हैं न कि कोई बंधुवा मजदूर। और इसके लिए यह जरूरी है कि उनके उतने ही बच्चे हों जितनों का लालन पालन वे आसानी से कर सकती हों। अपेक्षाकृत पुरुष इसके विपरीत यह कहते हैं कि बच्चे अल्लाह की देन हैं। पैदा वो करता है तो पूरा भी वही करेगा। यह एक बंधी बंधाई अवधारणा है। जिसका यथार्थ से कोई लेना देना नहीं है। जिला हस्पताल के कर्मचारियों से बात करने पर पता चला कि वहां काफी संख्या में मुसलमान महिलाएं गर्भपात करवाने आती हैं। यहां तक कि वे हिदू पहनावों में आती हैं जिससे कोई यह न जान सके कि वे मुसलमान हैं। डॉक्टर्स से वे आग्रह करती हैं कि वे उनकी पहचान छुपा कर रखें जिससे उनके पतियों को न पता चल सके। वे बताती हैं कि उन्हें अधिक बच्चों की परवरिश करने में दिक्कत आती हैं फिर वे नहीं चाहतीं कि उनके बच्चों का भविष्य खराब हो। लेकिन अगर उनके पति ये बात जानेंगे तो वे उन्हें तलाक दे देंगे

इसलिए वे इस बात को दबा कर रखना चाहती हैं। इस प्रकार हमे यह बात स्पष्ट होती है कि अधिक परिवार एक समस्या है न कि समाधान। जो परंपरा समाज में अव्यवस्थ और अराजकता फलाए वो किसी धर्म की थाती कैसे हो सकती है। इस्लाम तो मानवता के हित के लिए अस्तित्व में आया था। यह एक परिष्कृत धर्म था जिसने सारी सामाजिक बुराईयों को दूर करने की कोशिश की और कुरआन जैसे संविधान की स्थापना की। क़ुरआन मात्र एक धार्मिक ग्रंथ नहीं बल्कि एक सामाजिक विज्ञान की किताब है जिसमें सामाजिक जीवन को ध्यान में रखते हुए मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष पर गहराई से अध्ययन करते हुए निष्कर्ष निकाले गए हैं। सामाजिक विज्ञान से लेकर भौगोलिक व वैज्ञानिक गणना तक का इसमें जिक्र है। ऐसी पुस्तक में परिवार नियोजन को अनदेखा किया जाए यह कैसे संभव है? अध्ययन से स्पष्ट होता है कि कुरआन ने महलाओं को तमाम अधिकार देने के साथ साथ मां बनने का भी फैसला उन पर ही छोड़ा हुआ है। लेकिन चूंकि यह समाज भी पितृसत्तात्मक है इसलिए यहां भी पुरुष की ही चलती है। परिवार में उतने ही बच्चे होते हैं जितना पुरुष चाहता है। जिससे महिलाएं चोरी छिपे जाकर गर्भपात करवा आती हैं। इसका जीवंत उदाहरण देखने के लिए फिल्म पकिस्तानी फिल्म ''बोल'' देखी जा सकती है। जिसमें एक बड़ा परिवार अपने अभावों में किस तरह जीता है देख जा सकता है! जहां एक पुरुष का दंभ है कि उसे बेटा चाहिए। जहां पत्नी के ऑपरेशन करवा आने पर पुरुष अपना अपमान महसुस करता है और पत्नी से नफरत करने लगता है। फिर वह दूसरी महिलाओं से शादी करके बेटा पैदा करने की क़वाएद करता है। यह फिल्म इस्लामिक जटिलताओं पर एक जोरदार तमाचा है।

इसी प्रकार 'हसीना आपा' भी अंडरवल्व ल्डल के डॉन दाऊद पर बनाई गई फिल्म है जिसमें ये दर्शाया गया है कि एक मामूली होमगार्ड अपने सात आठ बच्चों की परवरिश ढंग से नहीं कर पा रहा। घर में अभाव ही अभाव हैं। न खाने को खाना, न पहनने को कपड़े। शिक्षा बिल्कुल नहीं। इन अभावों और विपन्नताओं से उक्ता कर लड़के डाका डालने लगते हैं। बैंक लूटने लगते हैं। पकड़े जाते हैं। और इस तरह से वे अंउरवल्ड की दुनिया में उतर जाते हैं। उक्त सिनेमा से भी साफ स्पष्ट होता है कि परिवार की विपन्नता और अधिक सदस्यों की संख्या नें उन ठीक ठाक लोगों की जिंदगी पेचीदा बना दी। अगर ये परिवार लंबा न होता तो शायद यूं बर्बाद न होता।

मुस्लिम समाज में परिवार नियोजन के पक्ष में किए जाने वाले प्रयास

ऐसा माना जाता है कि दुनिया की सबसे बडी समस्या गरीबी है और ये समस्या बंदूक से नहीं हट सकती। इसलिए इसे अंहिसक रूप से ही हटाने का प्रयास करना चाहिए। भारत की 70 फीसदी आबादी अभी भी भरपेट खाना नहीं पाती। अमीरी गरीबी का फासला बढ़ता ही जा रहा है। किसी समय में नक्सकलियों ने गरीबी हटाने का प्रयास किया था पर वे भी अपने रास्तेब से भटक गए हैं। इसकी वास्त विक कारण बड़े परिवार हैं। ऐसे परिवार जहां संसाधन जुटाने में दिक्कतें हैं और बच्चों की पैदाईश उस लिहाज से अधिक हैं वहां जाहिर सी बात है परेशानियां सामने आएंगी हीं।

वास्त व में बढ़ती गरीबी ओर भुख्मदरी के लिए देश की बढ़ती जनसंख्या भी जिम्मोदार है। अनाज की पैदावार कम है मगर खाने वाले ज्या दा। आधिकारिक तौर पर यह स्वीएकार किया जा चुका है कि एक अरब से अधिक की जनसंख्यार में लगभग 26 करोड़ व्यक्ति दीन हीन हैं और 39 करोड़ व्यिक्ति निरक्षर। गरीबी के लिए अशिक्षा भी जिम्मेहदार है। अनपढ़ व्यंक्ति ढेरों बच्चेर पैदा कर डालता है। वे परिवार नियोजन नहीं अपनाते।

मुसलिम समुदायों में भी गरीबी है जिसका कारण बड़ा परिवार है। इसलिए मुसलमानों को भी इस तरह की शिक्षा मिलनी चाहिए जिससे उनमें जागरूकता आ सके। इसके लिए संभव हो तो मुस्लिम लड़कियों के लिए मुफ्त शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। कम-से-कम हायर सेकेण्डरी तक सभी को मुफत शिक्षा दी जानी चाहिए। मदरसों में ऐसी शिक्षा हो जो उनके काम आ सके। लड़कियों को स्वास्थ्य के संबंधी शिक्षा भी दी जानी चाहिए। प्रख्यात मौलाना शिया धर्म गुरू डॉ. कल्बे सादिक का कहना है कि "इस्लाम में परिवार नियोजन की अनुमति नहीं है ये बहुत बडा भ्रम है जिसका सबसे अधिक नुकसान मुसलमानों को ही उठाना पड़ता है। वास्तव में इस्लालम में गर्भपात मना है। कुरआन में आया है कि मुफलिसी के डर से अपने बच्चों का कत्ले ना करो। जब तक गर्भ में जान ही नहीं आई। बच्चा बना ही नहीं तो परिवार नियोजन करने से उसका कत्लत केसे हो गया। इस्लानम ये भी कहता है कि विवाह अच्छी संतान छोड़कर जाने के लिए किया जाता है ना कि अपने से ज्या दा संतान छोड़ कर जाने के लिए। इस्लाम क्वालिटी पर जोर देता है क्वांटिटी पर नहीं। इरान ने परिवार नियोजन के जरिए ही अपनी आबादी में वृद्धि को एकदम नियंत्रित कर दिया है। अगर इस्लावम में परिवार नियोजन की अनुमति न होती तो इरान जैसे देश में ये कैसे हो पाता।"

जबकि ऑल इंडिया मुसलिम पर्सनल लॉ बोर्ड के उपाध्यक्ष एवं दारुल उलूम वकूफ देवबंद के चांसलर मोहतमिम हजरत मौलाना सालिम कासमी का मानना है कि परिवार नियोजन इस्लाम एवं शरीयत के खिलाफ है। बोर्ड मुसलमानों के लिए परिवार नियोजन के बारे में न तो खुद कोई नियम-कानून बनाएगा और न ही सरकार को ऐसा करने की अनुमति देगा।

मौलाना कासमी कहते हैं कि मुसलमान परिवार नियोजन कार्यक्रम नहीं अपनाएंगे। उनका कहना है कि यह मामला काफी पहले 1977 में निपट गया था और मुसलमानों ने इसका इमरजेंसी में भी विरोध किया था। उनका मानना था कि बोर्ड के उपाध्यक्ष सैयद कल्बे सादिक के बयान से वह कतई सहमत नहीं हैं जिसमें उन्होंने परिवार नियोजन को इस्लाम में जायज बताते हुए उस पर बोर्ड की बैठक में विचार करने की बात कही थी। मौलाना कासमी ने कहा कि बोर्ड का गठन इसलिए किया गया था कि वह सरकार को कानून बनाते समय यह राय दे सके कि कौन सी बात शरीयत के खिलाफ है।

इस मसले पर वैसे एक लम्बी बहस की जरूरत है कि इस्लाम परिवार नियोजन की इजाजत देता है या नहीं। किंतु अगर इसके पक्ष में किए गए प्रयासों के बारे में देखा जाए तो हमें डॉ. इलियास अली के प्रयासों की

तरफ खास तवज्जोअ देने की जरूरत है। असम में कार्यरत गुवहाटी मेडिकल कॉलेज में सर्जरी के प्रोफेसर डॉ. इलियास अली बाकायदा कुरान का जिक्र करते हुए कहते हैं कि ''कुरान परिवार नियोजन के खिलाफ नहीं है।''

उनका कहना है कि उन्होंने मुसलमान धार्मिक नेताओं को भी अपने तर्कों से सहमत कर लिया है और वे भी इस अभियान का हिस्साक बन गए हैं। उनका दावा है कि उनके अभियान के असर से बड़ी संख्या में मुसलमान पुरुष अब नसबंदी करवा रहे हैं और महिलाएं परिवार नियोजन के दूसरे तरीकों का प्रयोग कर रही हैं। हालांकि गुवाहाटी के ही मौलाना तालेबुददीन डॉ. इलियास की इस बात से सहमत नहीं हैं लेकिन वह ये मानते हैं कि इससे मुस्लिम समाज को फायदे हैं। वहीं पटना के मौलाना निजामुददीन का कहना है कि कुरान की जिन आयतों का जिक्र डॉ. इलियास कर रहे हैं उसमें बच्चोंल के बीच अंतराल रखने का तो जिक्र है पर नसबंदी की सख्त मनाही है। चूंकि डॉ. इलियास नॉन स्कैालपेल वैसेक्टॉमी [एनएसवी] यानि बिना सर्जरी के नसबंदी की विधा में प्रशिक्षित थे इसलिए असम सरकार ने इसके प्रचार का जिम्माल उन्हें सौंपा। डॉ. इलियास कहते हैं कि - ''मैंने कुरान के दो नं. सूरा की आयत 233 का और 46 नंबर की आयत 15 का जिक्र किया। लोगों को समझाया कि कुरान भी कहता है कि बच्चे को कम से कम ढाई साल तक मां का दूध नसीब होना चाहिए और दो बच्चों के बीच में उतना ही अंतर भी होना चाहिए।''

ए.आई.एम.डब्यूच म .पी.एल.बी. की दलीलें मौलानाओं के बे बुनियाद दावों की मुखालफत करती हैं। परवीन अबीदी का कहना है कि जिन महिलाओं ने इस बोर्ड की स्थापना की वे सभी मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड के रवैये से परेशान थीं। वह आगे कहती हैं कि ''हम भूली भटकी महिलाओं का नेतृतव करना चाहते हैं। हमारे कार्यकर्ता झुग्गी-झोपड़ीयों में रहने वाली मुस्लिम महिलाओं से मिलते हैं। उन महिलाओं से, जिनका जीवन बस बच्चे पैदा करना व उनका पाल-पोषण करने में गूजरना है। हम उन्हें बताते हैं कि इस्लारम हमें एक खास तरह की परिवार नियोजन की इजाजत देता है लेकिन मुल्लां तुरंत हमारा प्रचार इस्लातम के दुश्मन के एजेंट के रूप में करने लगते हैं।''

विश्व की बेतहाशा बढ़ती हुई जनसंख्या को रोकने में परिवार नियोजन कार्यक्रम एक अनुकरणीय पहल है। भारतीय प्रचीनतम मान्याताओं में बच्चों को ईश्वर की कृपा का स्वररूप माना जाता है। किन्तु वैज्ञानिक अविष्कारों और विज्ञान के बढ़ते प्रभाव से आज का आम आदमी भी यह जानने और समझने लगा है कि बच्चों के जनम को नियंत्रित किया जा सकता है। बच्चों के जन्म को नियन्त्रित करने के लिए स्वास्थ्य विभाग द्वारा कई प्रकार के साधन नि:शुल्क उपलबध कराए जाते हैं। परिवार नियोजन के स्थाई साधन में महिला एवं पुरुष नसबंदी सबसे कारगर माने जाती है। एन एस व्हीर बिना चीरा के पुरुष नसबंदी है। यह एक सरल एवं सुरक्षित विधि है। इसमें उन नसों के दोनो सिरों को काट कर बांध दिया जाता है।

इसी प्रकार महिलाओं दवारा भी नसबंदी करा कर स्थाई रूप से परिवार नियोजन कराया जा सकता है। महिला नसबंदी के लिए भी आधुनिकतम विधियों का उपयोग कर इसे कारगर और कष्ट रहित बनाया गया है।

मुस्लिम महिलाओं में परिवार नियोजन के प्रति उदासीनता

मुस्लिम आबादी की तीव्र गति से वृद्धि तथा देश के विकास में नगण्य भागेदारी चिंता का सबब बन गई है। आने वाले 10 वर्षों में इस प्रकार की बढ़ी हुई जनसंख्या, जो कि शैक्षिक तथा आर्थिक स्थिति में ही पिछडी हुई है देश के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। खुद अपनी जिंदगी की बुनियादी आवश्यकताओं का बोझ मुस्लिम समुदाय पर इस कदर बढ जायेगा कि वे अपनी पहचान व संस्कृति को खो बैठेंगे। अशिक्षा के टूटे फूटे खण्डहरों में अपना आशियाना तलाशते हुए एक दिन वे बहुत दूर निकल चुके होंगे। आखिर क्यों सरकारी योजनाएं इनके झूठे दम्भ को तोड नहीं पाई? खुद में संकुचित रहने वाले तथा महिलाओं को तमाम बंदिशों में रखने वाले अनगिनत व्यक्तियों की आस्था देश के हितों से ज्यादा धार्मिक उद्देश्यों में फंस कर रह गई। यहां तक राजनीतिक दल भी इनका लाभ उठाने से पीछे नहीं हटते हैं।

जीवन की सार्थकता का आधार ही शिक्षा है। जिससे ये समुदाय वास्तव में जुड ही नहीं सका। सबसे अधिक मुस्लिम महिलाएं ही शिक्षा से वंचित क्यों है? इसके पीछे एकाध नहीं, कई कारण विद्यमान है। इस मुद्दे की तफ्तीश आदि महिलाओं से ही आरम्भ की जाए तो दिलचस्प जवाब हमारे समक्ष हाजिर होते हैं। मसलन वर्तमान में किसी अधेड मुस्लिम महिला का जवाब नहीं होता है कि हमारे जमाने में तो स्कूल ही नहीं थे और समझदार होने की उम्र तक निकाह की तैयारियों शुरू हो जाती थीं। युवतियों में पढ़ने का जज्बा तो है। परंतु पर्दे के कारण तथा संयुक्त परिवार के कारण आर्थिक तथा शैक्षिक स्तर पर उनको कोई सहारा नहीं मिल पाता है। अलबत्ता मदरसों में तथा घरों पर ही थोड़ी तालीम उन्हें जरूर दी जाती है। वर्तमान में विद्यालयों में पढने वाली मुस्लिम बालिकाएं तेज तर्रार तो अवश्य है, परंतु पढाई में उनकी दिलचस्पी ज्यादा नहीं है। स्कूलों में वजीफा मिलता है, इसलिए मां-बाप उन्हें स्कूलों में भेज देते हैं। परंतु उनके स्कूल जाने के साधनों, स्कूल यूनिफार्म तथा कापी किताबों, पेंसिल आदि जरूरी समानों के अभाव को पूरा करने में स्वयं को अक्षम पाते हैं। इन बालिकाओं को दो राहों पर एक साथ चलना पड़ता है। एक तरफ सुबह मदरसे में जाना तथा उसके पश्चात विद्यालय जाना। यही नहीं परिवार में छोटे भाई बहनों का ख्याल रखना अपनी गर्भवती माता से न हो पाने वाले अधूरे गृह कार्य करना भी इनकी जिम्मेदारी है। इन परिस्थितियों में विद्यालय में उनकी लगातार उपस्थिति दर्ज नहीं हो पाती या फिर वे स्कूल छोड़ कर घर बैठने में मजबूर हो जाती हैं।

अशिक्षा से घिरी हुई इन बालिकाओं की मनोदशा को अनपढ मां-बाप समझने में असमर्थ रहते हैं। स्वास्थ्य संबंधी जानकारी ना होने तथा शिक्षा के अभाव में ये बालिकाएं अपने बारे में सोंचने में सक्षम नहीं रह जातीं। यह बात दीगर है कि बच्चे ईश्वर का रूप है या उन्हीं की देन हैं। तो इसका मतलब ये हरगिज नहीं कि हम बच्चों की फौज खड़ी कर लें। ईश्वरीय आस्था संयम भी सिखाती है। कम से कम कुछ थोड़े से पढ़े लिखे लोग ही यह जान पाए है कि परिवार नियोजन उनकी तरक्की का आधार है। आज तक फतवों तथा कट्टर उपदेशों की मार सिर्फ गरीबों तथा अनपढ़ों पर ही पड़ती है। पढी लिखी नवयुवतियां तो हिम्मत करके अपने अधिकारों का

प्रयोग करने के लिए रास्ता निकाल लेती हैं। फिर भी उन्हें ऐसे संबल की आवश्यकता है जो उनहें आर्थिक तंगी से उबार सके तथा अपने पैरों पर खडा होने में मदद कर सके।

इस प्रकार देखा जाए तो मुस्लिम महिलाओं में कहीं गहरे तक धर्मांधता पैठ गई है। वे धर्मों से इस हद तक जुड़ चुकी हैं कि वे हर चीज को धर्म के प्रकाश में ही देखती हैं। उन्हें अपनी जिंदगी से ज्यादह आखिरत (परलोक) से आसक्ति है।

संदर्भ:-

मोहम्मद, अय्यूब. (2008). *मुस्लिम महिलाएं और सामाजिक परिवर्तन.* दिल्ली : राधा पब्लिकेशन.

शर्मा, रमा & मिश्रा ए. के. (2012). *महिला और मानवाधिकार.* नई दिल्ली : अर्जुन पब्लिशिंग हाउस.

लाल, मुकुटबिहारी. (2009). *इस्लाम ओर आधुनिक भारत.* वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन.

राय, अरूण. (1999). *भारत का राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग.* नई दिल्ली : राधा पब्लिकेशन.

सिंह, निशांत. (2009). *भरतीय महिलाएं, एक सामाजिक अध्ययन.* ओमेगा प्रकाशन, दिल्ली

कुलश्रेष्ठ, नीलम. (सं.). (2012). *धर्म के आर पार औरत.* दिल्ली : किताबघर प्रकाशन.

रफत जकिया. (2007). *मुस्लिम विवाह सिद्धांत व व्यंवहार.* गाजीपुर : दानिश बुक.

सरबसी अहमद. (2007). *फैमिली प्लानिंग,भाग-दो.* हैदराबाद : आजाद प्रकाशन.

मुसल्लम बी. एस. (2007). *सेक्स एण्ड सोसाईटी इन इस्लाम.* नई दिल्ली : एटलांटिक प्रकाशन एण्ड डिस्टीब्यूकटर.

नदवी, नजमुस्साक़िब अब्बासी. (2012). *इस्लाम विरोधी प्रश्नों के उत्तर.* लखनउ : सत्य मार्ग प्रकाशन.

चावला, काशीराम. (2012). *इस्लाम:मानवतापूर्ण ईश्वरीय धर्म.* नई दिल्ली : मधुर संदेश संगम.

स्त्री केवल देह है...

डॉ. नीतू जय सिंघानी*

neetujaisinghani1976@gmail.com

भीष्म साहनी का नाटक 'माधवी' स्त्री अस्मिता के कटु सच को उघाड़ कर हमारे सामने रख देता है। पुरुष चाहे मध्ययुगीन हो या आधुनिक उसकी दृष्टि में स्त्री की पहचान उसका दैहिक सौंदर्य ही है। उसकी देह जिसे वह भोग सके और उससे अपने लिए संतान (विशेष रूप से पुत्र) उत्पन्न कर सके। पुरुष आज भी स्त्री को इसी रूप में पहचानता है। स्त्री जीवित सत्ता है, उसकी अपनी इच्छाएं, बुद्धि, योग्यता और क्षमताएं है, इसे पुरुष समझ ही नहीं पाता। इस नाटक में माधवी जिस गालव के लिए अपना पूरा जीवन समर्पित कर देती है जिसके लिए आठ सौ अश्वमेघी घोड़ों की गुरु-दक्षिणा जुटाने हेतु तीन-तीन राजाओं के रनिवास में रहती है, अपने पुत्रों से बिछोह सहती है, वही गालव उसके ढले हुए रूप-सौंदर्य के कारण उसे स्वीकार करने में हिचकने लगता है। गुरु की भोग्या कहकर मर्यादा के नाम पर पीछा छुड़ाना चाहता है। दूसरी ओर माधवी अनुष्ठान आदि के माध्यम से यदि पुनः कौमार्य प्राप्त कर ले तो वह उसे स्वीकार करने को लालायित भी है। माधवी उसे समझाती है कि यही मेरा असली रूप है। मैं शरीर से तो युवती बन सकती हूँ पर दिल से नहीं।

"अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए औरत के शरीर का इस्तेमाल शायद पुरुष समाज का सबसे पुराना और घिनौना कोढ़ हैं (रैना, पृ.- 219)।" स्त्री की यह दुर्दशा महाभारत कालीन इस कथा तक ही सीमित नहीं है। आज समाज ऊपरी तौर पर भले कितना ही आधुनिक हो चुका है, स्त्री को इसी रूप में पहचानता है। रंग गोरा करने वाली क्रीम और रूप-सौंदर्य वर्द्धक प्रसाधनों का बाजार व विज्ञापन में भरमार का यही कारण है। इसी वजह से भारत में रंग गोरा करने वाली क्रीम करोड़ों का व्यापार करती है। विवाह के प्रत्येक विज्ञापन में लड़की के गोरे, लंबे, पतले होने की मांग लगभग अनिवार्यता के साथ रख दी जाती है। अक्सर राजनीतिक चुनावों में इस तरह की होड़ भी देखी जाती है कि विपक्षी दलों की तुलना में उनके दल में ज्यादा खुबसूरत महिलाएं हैं और इस कारण वह दल ज्यादा भीड़ जुटा सकने में सक्षम होगी। इस तरह के उदाहरण 21 वीं सदी के तकनीकी युग में जीने वाले तथाकथित आधुनिक पुरुषों की मानसिकता का प्रतिफलन है। इस मानसिकता का जोर बाहरी रूप-रंग के आधार पर स्त्री को पहचानने की रहती है। इतना ही नहीं सोच तो यह भी है कि स्त्री जीवन में जो कुछ हासिल करती है, वह योग्यता से नहीं बल्कि केवल अपने रूप-सौंदर्य के बल पर। इसी मानसिकता को ध्यान में रखते हुए राजनीतिक पार्टियों में महिला उम्मीदवारों को भीड़ बढ़ाने का जरिया मात्र समझा जाता है

* **असिस्टेंट प्रोफेसर (हिंदी), आर्यभट्ट कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली**

और उनका इस्तेमाल किया जाता है। इसके अलावा तो जैसे पार्टी में उनकी और कोई सकारात्मक भूमिका होती ही नहीं।

अयोध्या के राजा हर्यश्व, काशी के राजा दिवोदास, भोजनगर के वृद्ध राजा उशीनर-माधवी की कोख से उत्पन्न हो सकने वाली चक्रवर्ती संतान के लिए उसकी कोख और देह का सौदा करते हैं। राजा हर्यश्य तो यह तक कहते हैं कि- 'हमें यदि पुत्र लाभ नहीं हुआ तो यह सौदा किस काम का ?' महाभारत कालीन समाज की यह घटना आज की सेरोगेसी का ही प्राचीन रूप दिखता है जिसमें औरत अपनी कोख से बच्चे को जन्म देकर भी उसकी माँ नहीं बन पाती है। माधवी भी अनुभव करती है "... पर मैं जानती थी, ये बांदियाँ मेरी नहीं, राजा की हैं , ये वस्त्र और आभूषण मेरे नहीं, राजा के हैं, कि मेरी कोख से जन्म लेने वाला बच्चा भी मेरा नहीं, राजा का होगा।" यहां तो माधवी, गालव के लिए अपनी संतान का सौदा करती है पर क्या भारतीय समाज में विवाह परंपरा के जायज दायरे में उत्पन्न संतान पर भी स्त्री अपना अधिकार जमा सकती है? क्या उसे अपने 'नाम' और 'सरनेम' की पहचान दे सकती है? आधुनिक समाज में भी तो बच्चा पिता के नाम से ही पहचाना जाता है। औरत तो सिर्फ उसे जन्म देती है, समाज में बच्चे को पहचान तो उसके पिता के नाम से ही मिलती है। माधवी के जीवन की विडंबना यह भी है कि वह सरोगेट माँ बनती है, अपनी कोख बेचती है पर अपने किसी स्वार्थ या लालच के लिए नहीं बल्कि गालव के प्रेम को पाने के लिए। गालव की गुरु-दक्षिणा पूर्ति के दायित्व को पूरा कर सकने के लिए। पर अंततः माधवी समझ पाती है कि गालव सिर्फ स्वयं से प्रेम करने वाला स्वार्थी, आत्मसीमित व्यक्ति है। उसके लिए माधवी में कुछ महत्वपूर्ण है तो उसका चिर-कौमार्य के वरदान से प्राप्त सौंदर्य और चक्रवर्ती संतान उत्पन्न करने वाली कोख। यानी माधवी को गालव प्रेम के नाम पर छलता है। तीनों राजाओं ने कम-से-कम माधवी से सीधा-सीधा सौदा तो किया। पर गालव तो माधवी की कोमल भावनाओं से अपने प्रति सहानुभूति उत्पन्न करता है और फिर उसी सहानुभूति की आड़ में उसे ठगता है। प्रेम के नाम पर पुरुष द्वारा स्त्री को छले जाने की लंबी ऐतिहासिक-सांस्कृतिक परंपरा हमारे समाज में मिलती है। गालव, इसी पारंपरिक पृष्ठभूमि में माधवी के कोमल मन का फायदा उठाकर, उसे अपने अनुसार संचालित करता है। यहां प्रेम समानता और एक-दूसरे की इच्छाओं को महत्व देने की नींव पर नहीं खड़ा है। क्योंकि यह प्रेम एकतरफा है सिर्फ माधवी की ओर से है।

पितृसत्ता में सदैव स्त्री की अवहेलना की गई है। स्त्री की शक्ति और कार्यों को कमत्तर करके आंका जाता रहा है। यह पितृसत्ता की साजिश है जिसमें स्त्री को कमजोर साबित कर पुरुष सदैव उस पर नियंत्रण कायम रखता है। जो माधवी पिता ययाति की महादानवीर बनने की महत्वाकांक्षा और गालव की गुरु-दक्षिणा पूर्ति का साधन बनती है उसे ही गालव बार-बार कमजोर और रहस्यों की पोटली कहता है। अयोध्या के राजा को पुत्र सौंपने के पश्चात्, माधवी फिर से गालव के साथ अन्य घोड़े जुटाने को निकल पड़ती है। तब माधवी का मन अपने नवजात शिशु के लिए व्याकुल होने लगता है। गालव उसे समझाता है कि वह तुम्हारा बच्चा नहीं है। तुमने केवल राजा के लिए राजकुमार जुटाया है। यही हमारा अनुबंध था।

माधवी की मनःस्थिति पर सहानुभूति व्यक्त करने की जगह संतान के प्रति उसके ममत्व को उसकी कमजोरी साबित किया जाता है- " मैं नहीं जानता था कि संतान पैदा हो जाने पर तुम इतनी दुर्बल हो जाओगी। इसलिए शायद स्त्रियां जोखिम के काम नहीं कर सकतीं, किसी बड़े काम का दायित्व वहन नहीं कर सकतीं।" (माधवी, पृ.65) अंतिम शेष दो सौ घोड़ों की प्राप्ति के लिए जब माधवी गालव को बिना बताए गुरु विश्वामित्र के पास चली जाती है तब भी गालव माधवी के प्रति इसी प्रकार का विचार व्यक्त करता है- ' पत्तों की नाव के सहारे मैंने सागर पार करने की चेष्टा की' (माधवी, पृ. 92)। माधवी प्रेम का कोई आश्वासन न मिलने पर भी गालव के प्रेम पर पूर्ण विश्वास करती रही। उसने गालव के गुरु दक्षिणा के लक्ष्य को अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। तीन-तीन राजाओं के अंतःपुरों में इस उम्मीद पर रही कि एक दिन गुरु-दक्षिणा के दायित्व से मुक्त हो गालव उसका वरण करेगा। वह गालव के प्रेम पर पूर्ण विश्वास रखती है। पर गालव माधवी से सब कुछ पाकर भी उसके अचानक कहीं चले जाने पर यही सोचता है- "कहा गया है कि स्त्री रहस्यों की गुथली होती है। उसे देवता नहीं समझ पाए तो मनुष्य क्या समझेगा। जो मनुष्य स्त्री को समझ पाया है, समझिए कि वह संसार की सभी विधाओं में पारंगत हो गया।" (माधवी, पृ. 91) यह है सदियों से पितृसत्ता के स्वार्थी ढ़ांचे में ढ़ली पुरुष मानसिकता। ऐसी मानसिकता से संचालित पुरुष वास्तव में स्त्री को समझ भी नहीं सकता। माधवी, गालव से पूरी तरह संचालित होती है, उसके लिए बाजार की वस्तु तक बन जाती है, अपना सब कुछ गंवा देती है फिर भी गालव को उस पर विश्वास नहीं है। नाटक के अंत में ययाति अपने आश्रम में माधवी का स्वयंवर रचाते हैं। सभी को विश्वास है कि माधवी गालव का ही वरण करेगी परंतु गालव के मन में शंका बनी रहती है। वह सोचता है कि मुझे यहां दो दिन पहले ही आ जाना चाहिए था। माधवी का मन बदल भी तो सकता है। वह किसी राजा को वरेगी, सुख-चैन से रहेगी। यहां भी गालव की मुख्य चिंता यह है कि माधवी ने किसी अन्य राजा का चयन कर लिया तो यह उसकी व्यक्तिगत हानि होगी। माधवी जीवन में एक गलती करती है कि वह गालव के लोभ को उसका प्रेम मान बैठती है। यही गलती उसके जीवन की त्रासदी का कारण बनती है।

जब भी नारी अपने प्रति हो रहे शोषण पर प्रश्न करती है तो उसे भाग्य के नाम पर शांत कर दिया जाता है। कर्त्तव्य के बड़े-बड़े पाठ पढ़ा दिए जाते हैं पर अधिकार, हक, इच्छा, महत्वाकांक्षा, सपनों का एक भी पाठ उसके हिस्से में नही आता। माधवी के जीवन में जितने पुरुष आते हैं सब उसे अपनी महत्वाकांक्षा पूर्ति का साधन बनाते है, यहां तक की पिता ययाति भी। ययति के जीवन की सबसे बड़ी महत्वाकांक्षा है कर्ण से भी बड़ा दानवीर कहलाना। ययाति जब शरण में आए गालव को आठ सौ अश्वमेघी घोड़े देने में असमर्थता व्यक्त करते हैं तो गालव उनकी दानवीरता पर कटाक्ष करता है जिसे ययाति सहन नहीं कर पाते और स्वयं को सच्चा दानवीर सबित करने के लिए अपनी पुत्री माधवी को दान में दे देते हैं। माधवी जब पूछती है कि यह सब क्या है तो उसके किसी भी प्रश्न का उत्तर न देकर पिता ययाति उसे भाग्य के भरोसे छोड़ देते हैं। आगे कथा में आश्रमवासी मारीच, ययाति को बताते हैं कि गालव ने दो सौ घोड़ों के लिए माधवी को अयोध्या के राजा हर्यश्य को सौंपा है। और एक साल पश्चात् गालव माधवी से जन्म लेने वाले पुत्रों को राजा को सौंप कर पुनः माधवी को किसी अन्य राजा के पास इसी प्रकार के सौदे के लिए ले जाएगा। आश्रमवासी ययाति को समझाते

हैं- 'शेष घोड़ों के लिए माधवी का किसी अन्य राजा के पास रहना पड़ा तो अच्छा नहीं होगा। यह आपकी भी मर्यादा का प्रश्न है। वह राजकन्या है। यही उचित है कि वह अयोध्या नरेश की महारानी ही बनी रहे।' (माधवी, पृ. 50) माधवी की इतनी विकट स्थिति पर भी पिता ययाति का मन नहीं पसीजता। मारीच के पूछने पर- ''पर माधवी का क्या होगा, महाराज ?'' ययाति यही जवाब देते हैं "भाग्य बली है, मारीच।" अंततः वह इस निर्णय पर पहुंचते हैं; 'सुनो मारीच जो दान दिया जा चुका है, उसके बारे में सोचना अथवा चिंता करना एक दानी को शोभा नहीं देता, इसका अर्थ है उसके दान में स्वार्थ का खोट मिला हुआ है। लोग कहेंगे कि ययाति अपनी एक मात्र पुत्री के मोह में फंसकर विश्वामित्र के सामने गिड़गिड़ाने गया है... मारीच... माधवी इस आश्रम से जा चुकी है।" यही नहीं जब गालव माधवी के त्याग के कारण अपनी गुरु-दक्षिणा जुटाने की प्रतिज्ञा पूर्ण कर पाता है तब भी ययाति इसका श्रेय गालव को देते हैं। पिता की नजरों में भी माधवी कुशल कार्य साधिका नहीं है, हालांकि कार्य किसी तरह संपन्न हो गया है। पुरुषवादी मानसिकता स्त्री के प्रति ऐसी ही दृष्टि रखती है।

ययाति- ".... माधवी बचपन से ही बड़ी अल्हड़ स्वभाव की रही है, पर उसने तुम्हारी गुरु-दक्षिणा तो जुटा दी।
गालव- हाँ, महाराज, इसके लिए मैं बहुत आभारी हूं।
ययाति- मृगशावक को कटघरे में बांधकर रखना बड़ा कठिन होता है।" (माधवी, पृ. 107)

माधवी भी इस सत्य को जानती है कि उसकी ही आहुति से संपन्न कार्य का श्रेय उसे रत्ती भर भी नहीं मिलेगा। हुआ भी ऐसा ही। गालव महान साधक, उसके पिता महान दानवीर के रूप में विख्यात हुए और माधवी के प्रति समाज की समझ चंचल वृत्ति वाली उस स्त्री की ही रही जिसके चरित्र पर विश्वासपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। माधवी के पिता उसे दान में देते हैं, महाभारत में युधिष्ठिर, द्रौपदी को दांव पर लगाते हैं आज भी भारतीय विवाह परंपरा में बेटी का कन्या-दान किया जाता है। दान किसी वस्तु का किया जाता है। पितृसत्तात्मक समाज ने हमेशा से ही स्त्री को वस्तु समझा है। इसलिए उसकी इच्छा-अनिच्छा को कभी महत्व नहीं दिया गया। यहां अतीत और वर्तमान को एक साथ संबोधित किया जा सकता है क्योंकि स्त्री संबंधी मानसिकता मूलतः एक जैसी ही है। इसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है।

आज स्त्री विमर्श की विचारधारा से जुड़े सभी लोगों का पहला प्रयास है स्त्री की अस्मिता, अस्तित्व को पहचाना जाए। स्त्री के तन और मन पर उसका अपना हक हो। वह अपने जीवन के महत्व को स्वीकार करे। अपने निर्णय लेने की क्षमता हासिल करे। यह नाटक इस दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस नाटक में महाभारत कालीन माधवी के व्यक्तित्व की मूल संवेदना को जीवंत बनाया गया है। माधवी स्वयंवर से पूर्व गालव के प्रेम की परीक्षा लेती है जिसमें गालव असफल होता है। अब वह कर्त्तव्यपरायणता के ढ़ोंग से माधवी को छल नहीं पाता। माधवी उसके स्वार्थी स्वभाव, उसके मन में कुलबुलाने वाली वासना को पहचान लेती है। गालव के आदर्श व मर्यादाओं के ढ़ोग का वह पर्दाफाश करती है। उसके मन में गालव के प्रति तीव्र आक्रोश उत्पन्न होता है। आधुनिक नारी की स्वतंत्र मानसिकता का परिचय देते हुए वह चिर-कौमार्य का अनुष्ठान न करने का

निर्णय लेती है। यहीं से नारी मुक्ति की वह राह निकलती है जहां से नारी समाज की सारी सड़ी-गली मान्यताओं, धर्मशास्त्रों और विशेषकर मनुस्मृति में दी गई स्त्री की भोगवादी परिभाषाओं को नकारने का साहस जुटाती है। यहां सिमोन द बोउवार की वैचारिकी- 'शारीरिक प्रेम न लक्ष्य हो सकता है न लक्ष्य प्राप्ति का साधन' को माधवी की स्वतंत्रचेत्ता मानसिकता से जोड़कर देखा जा सकता है। वह अपने आत्मसम्मान की प्राप्ति के लिए संघर्ष की राह पर चल पड़ती है। वह समझ चुकी है राजा, तपस्वी सभी पुरुष नारी-देह के ही साधक हैं, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। बाकी तो इस तथ्य को छुपाने के लिए गढ़े छद्म हैं। वह संकल्प लेती है कि प्रेम के नाम पर त्याग व सहनशीलता की बलिवेदी पर और बलिदान नहीं देगी। अपनी स्वतंत्र सत्ता और पहचान की तलाश को वह अपना श्रेय चुनती है। इसलिए अंततः वह कहती है- ''संसार बड़ा विशाल है, गालव, उसमें निश्चय ही मेरे लिए स्थान होगा।''

संदर्भ

साहनी, भीष्म. (2017). *माधवी*. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन.

गुप्ता, रमणिका. (2006). *स्त्री विमर्श कलम और कुदाल के बहाने*. नई दिल्ली : शिल्पायन.

पालीवाल, कृष्णदत्त. (संपा.). (2014). *नारी विमर्श की भारतीय परंपरा*. नई दिल्ली : सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन.

मालती, डा. के. एम. (2010). स्त्री विमर्श : भारतीय परिप्रेक्ष्य. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.

यादव, राजेन्द्र.; खेतान, प्रभा & दुबे, अभय कुमार. (संपा.). (2010). *पितृसत्ता के नए रूप स्त्री और भूमंडलीकरण*. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.

रैना, एम. के. *नया पथः भीष्म साहनी, जन्मशताब्दी विशेषांक.*

भूमंडलीकरण की संस्कृति : कुछ विचारणीय बिंदु

डॉ. जयन्त कुमार कश्यप*

jayantkkashyap74@gmail.com

भूमंडलीकरण एक अवधारणात्मक शब्द है। इसीलिए अलग-अलग समय में अलग-अलग बिन्दुओं के आधार पर इसकी व्याख्या की जाती रही है। यहां जिस भूमंडलीकरण की बात की जा रही है, वह अमेरिकीकरण का पर्याय है, जो पूंजी की ठोस जमीन पर खड़ा होकर पूरी दुनिया को एकरूप करने की जद्दोजहद में है। इस एकरूपता के दायरे में पूरी दुनिया की संस्कृति और समाज है। हम जानते हैं कि प्रत्येक समाज और संस्कृति की अपनी-अपनी अस्मिताएं होती हैं। इन अस्मिताओं में असीम शक्तियां छिपी होती हैं जो मानव-जाति के विकास का उज्ज्वल समाजशास्त्र गढ़ती हैं। इसलिए भूमंडलीकरण/अमेरिकीकरण के बहाने पूरे वैश्विक समाज में अमेरिकी आर्थिक और सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की संस्कृति का रंग चढ़ा देना कहीं से भी जनकल्याणकारी और सृजनशील नहीं है। सृजनशीलता का क्षरण मनुष्यता का क्षरण है और मनुष्यता का क्षरण समाज और मानव जाति का क्षरण है। दरअसल एकरूपता अप्राकृतिक है। जीवन की असीम संभावनाएं उसकी विविधता में हैं। जीवन के वैविध्य को रोककर संस्कृति को रोबोटीकरण की ओर ले जाना किसी समाज के लिए अत्यंत घातक है।

भूमंडलीकृत व्यवस्था की आर्थिक और सांस्कृतिक साम्राज्यवादी संस्कृति ने दुनियाभर की संस्कृति और समाज की अपनी-अपनी अस्मिताओं को ध्वस्त कर एकरूपता स्थापित करने का काम किया है। यह एकरूपता दरअसल अमेरिकी समकक्षता में ढलते चले जाने की एक प्रक्रिया है। एकरूपता इस अर्थ में बहुत ज्यादा अप्राकृतिक और घातक है कि जैसे-जैसे यह बढ़ती जाती है वैसे-वैसे हिंसा में भी बढ़ोत्तरी होती जाती है। इसलिए भूमंडलीकरण का बाइप्रॉडक्ट अनिवार्यतः हिंसा है। दूसरे शब्दों में कहें तो आर्थिक&सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का संस्कृतिकरण यानी समूचे विश्व में इस संस्कृति के एकरूप होने पर बल देना, अनिवार्य रूप से हिंसा को उपजाता है। यही कारण है कि 21वीं सदी में कोई विश्व युद्ध या महायुद्ध तो नहीं हुआ है लेकिन बगैर युद्ध के मरने वालों की संख्या किसी विनाशकारी युद्ध से कम नहीं है। मरने वालों की जद में किसान, दलित, छोटे व्यापारी, कामगार वर्ग, बाल वर्ग और महिलाएं हैं। यानी एक विशाल आबादी साम्राज्यवादी संस्कृति के नुकेले दांत का नर्म चारा बनी और यह प्रक्रिया अभी तेजी से जारी है। इस मृत्यु की तांडव लीला में मरना भीतरी और बाहरी दोनों स्तरों पर जारी है। इसमें हत्याएं भी हैं और आत्महत्याएं भी। हत्यारा दिखाई देता भी है और नहीं भी। मृत्यु का रूप चाहे जैसा भी हो पर इंसान का मरना निश्चित है। इस अर्थ में संस्कृति (आर्थिक,

* **असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, संत जेवियर्स कॉलेज, सिमडेगा, रांची यूनिवर्सिटी रांची, झारखंड**

सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की संस्कृति) का एकरूपीकरण ग्राह्य नहीं हो सकता। पूरन चंद्र जोशी समाजविज्ञान के लिए संस्कृति को केंद्रीय मुद्दा मानते हैं। सन् 1989 में छपी अपनी पुस्तक 'कल्चर, कम्युनिकेशन एंड सोशल चेंज' (अंग्रेजी) में जोशी जी ने बताया है कि किस तरह अर्थव्यवस्था और राजनीति आज सांस्कृतिक नवजागरण के विकास में सहायक या बाधक बनते हैं (जोशी, 2000)।

भूमंडलीकरण का दूसरा नकारात्मक पहलू प्रतिरोध के केंद्रों का ध्वस्त होना है। 20वीं सदी में वैचारिकता की प्रधानता थी। इस वैचारिकता या वामपंथी किस्म की सोच ने मनुष्य को प्रतिरोध का स्वर दिया था। प्रतिरोध की संस्कृति में गढ़े गए केंद्रों ने पूरी दुनिया के समाज में अन्याय और असमानता के खिलाफ आवाज उठाई। लेकिन भूमंडलीकरण की संस्कृति (आर्थिक, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की संस्कृति) ने प्रतिरोध के केंद्रों को ध्वस्त कर एक आकांक्षित सभ्यता-संस्कृति को ही ध्वस्त कर दिया। ध्वस्त करने के बाद भूमंडलीकरण ने उपभोग की संस्कृति का तेजी से प्रसार किया। भूमंडलीकरण ने एक नए जीवन मूल्य 'उपभोग' को जन्म दिया। वैश्वीकरण में मनुष्य की परिभाषा भोग करने की क्षमता से तय होती है। एक उपभोक्ता के रूप में आपके उपभोग करने की क्षमता से ही आपका बड़ा या छोटा होना तय होता है। इस उपभोग की संस्कृति ने दो स्तरों पर बदलाव किए। मनुष्य को इसने आत्मकेंद्रित कर दिया। यही कारण है कि संचार के तीव्रतम प्रसार की सारी सुविधाओं के बावजूद जहां एक बटन दबाते ही दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने तक साक्षात् संबंध बनाए जा सकते हैं, संवेदना के धरातल पर मनुष्य आज नितांत आत्मकेंद्रित है, अकेला है।

दूसरा बदलाव पर्यावरण संकट के रूप में देखा जा सकता है। वैश्वीकरण ने मध्य वर्ग जिसकी तादाद पूरी दुनिया में सबसे अधिक है, के मन में विकास की लालसा जगाई। विकास की उस अंधी दौड़ का रास्ता पर्यावरण के अत्यधिक दोहन से होकर गुजरता है। इसलिए इस लालसा ने एक साथ वायु, जल और भूमिगत पर्यावरण का विकराल संकट खड़ा कर दिया जिसमें आगे मनुष्य का अस्तित्व बचेगा या नहीं यह बुनियादी सवाल केंद्र में आ गया है।

भूमंडलीकरण के तीसरे नकारात्मक पक्ष के रूप में अब उस विषय पर चर्चा की जाएगी जिसे कदाचित बहुत अधिक सकारात्मक नजरों से देखा जाता है परंतु ऐसा है नहीं। यह विषय है 'स्त्री स्वातंत्र्य' का। ऐसा कहा जाता है कि भूमंडलीकरण ने स्त्री को सामंती समाज या पुरुष मानसिकता की गुलाम संस्कृति से मुक्त कर दिया। परंतु गौर से देखें तो स्त्री केवल पितृ सत्तात्मक दायरे से स्वतंत्र हुई है। हकीकत में वह पूरी तरह स्वतंत्र नहीं हुई है। इस संदर्भ में अभय कुमार दुबे (2010) ने अपने लेख 'भूमंडलीकरण का प्रतिभूगोल पितृसत्ता के नए रूप' में इस बारे विस्तार से जानकारी दी है। इसी लेख से कुछ पंक्तियां उद्धृत की जा रही हैं जो भूमंडलीकृत समाज में स्त्रियों की दशा को समझने में मददगार होंगी - "भूमंडलीकरण के पहले चरण में निर्यात हेतु माल बनाने के लिए श्रम-प्रधान प्रौद्योगिकी में गरीब महिला श्रमिकों को बड़े पैमाने पर खपाया गया।

भूमंडलीकरण का दूसरा चरण ऑटोमेशन, कंप्यूटरीकरण और संचार क्रांति का था जिसके लिए उच्च शिक्षित और मध्य व उच्च मध्यवर्गीय औरतों की जरूरत पड़ी। औरत के सौंदर्य को उपभोक्ता क्रांति का केंद्र

बनाने के लिए पश्चिम में पिट चुकी सौंदर्य प्रतियोगिताओं में नई जान डाली गई और तीसरी दुनिया की औरतों को विशेष रूप से सुंदर घोषित कर दिया गया। प्रसाधन उद्योग और सौंदर्य उद्योग को मध्यवर्गीय लड़कियों और गृहणियों के रूप में असंख्य नए उपभोक्ता मिल गए। भूमंडलीकरण ने औरत का इस्तेमाल करते समय नर-नारी विषमता के सामाजिक पहलू की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया। बाजार के पास ऐसा कोई औजार नहीं था जिसके जरिए वह सामाजिक शक्ति-संतुलन को प्रभावित करता। दरअसल उसका फायदा तो औरत की अधीनस्थ और परिवार के साथ बंधी हुई स्थिति कायम रखने में ही था। उसे औरत से कम वेतन के बदले अधिक श्रम जो लेना था। औरत को देह के बंधनों से निकाल कर सचेत बनाने में भी उसकी कोई दिलचस्पी नहीं थी इसलिए उसने सुंदर औरत को विदुषी और विदुषी औरत को सुंदर मानने से इंकार किया। कुल मिलाकर भूमंडलीकरण ने औरत की पारम्परिक अधीनस्थ छवि को कायम रखते हुए उसकी सुंदरता के संस्थागत इस्तेमाल को वैश्विक आयाम प्रदान कर दिया (यादव, खेतान & दुबे, 2010)।"

वस्तुतः भूमंडलीकरण की पूंजीवादी संस्कृति में स्त्री और अधिक गुलाम/ परतंत्र हुई है। वह उपभोग्य वस्तु के रूप में ही प्रस्तुत हुई है। इस संदर्भ में हिंदी की मशहूर लेखिका कृष्णा सोबती की उक्ति उल्लेखनीय है। उन्होंने जो कुछ कहा उसका सार है, "सामंतवादी पितृ सत्ता में स्त्री अपना देह बेचने के लिए सीधे तौर पर स्वतंत्र थी। अब वह देह की भी स्वामिनी नहीं है बल्कि चीजों को बेचने के लिए अपने देह का इस्तेमाल करती है। यह स्वतंत्रता नहीं बल्कि उपभोग्य होने का एक नया रूप है।"

नागार्जुन की कविता 'तालाब की मछलियां' के भाव साम्य से भी स्त्रियों की स्थिति को समझा जा सकता है। कविता का आशय है- "तालाब में जब पानी था। यह सच था कि तालाब का एक सीमित दायरा था। लेकिन उस सीमित जल में मछलियां स्वछंद होकर तैर सकती थीं', कुलांचे मार सकती थीं। अब तालाब का पानी सूख गया है। अब कोई भी तालाब की मछलियों को ले जा सकता है और अपनी रुचि के अनुसार उपभोग कर सकता है (नागार्जुन, 1975)।" भूमंडलीकरण/ बाजारीकरण ने स्त्री को भी सूखे तालाब की मछलियों की तरह सब के उपभोग की वस्तु बना दिया है। यही भाव साम्य 'चना' और 'स्त्री' में भी देखा जा सकता है। चना का हर रूप उपभोग्य है- सूखा, भीगा, साग के रूप में उसकी पत्तियां, बेसन, चनाचूर आदि। बाजार ने स्त्री के भी हर रूप को उपभोक्ता वर्ग के सामने परोस दिया है।

चौथा नकारात्मक पहलू लोक कलाओं के पण्यीकरण मात्र होकर रह जाने की है। लोक कलाओं का सीधा और जीवंत संबंध समाज से होता है। लोक कलाएं समाज के जीवंत रेशे होते हैं। किसी भी समाज की लोक कलाओं और वहां के स्थानीय लोगों में दर्शक और दृश्य का संबंध होता था। भूमंडलीकरण की एकरूप पूंजीवादी संस्कृति में लोक कलाएं महज ऊब मिटाने के साधन के रूप में ग्राह्य हैं। यहां दर्शक और दृश्य के बीच आत्मसात् होने जैसा कुछ नहीं है। यहां निरंतर द्वैत का भाव रहता है जैसे शीशे के पार उफनता समुद्र देखकर लहरों का अहसास तो हो सकता है पर हाथ बढ़ाने पर शुष्कता हाथ लगती है। ठीक उसी तरह भूमंडलीकरण की संस्कृति में जगह-जगह की लोक कलाएं सिर्फ मजा लेने के लिए देखी और सुनी जाती है।

लोक कलाकार भी अपनी कलाओं को पण्यीकरण मात्र कर जीवन को आर्थिक रूप से संपन्न बना रहे हैं। उनकी पूछ महानगरीय संस्कृति की ऊब मिटाने वालों के रूप में ही हो रही है। दूसरी ओर लोक कलाकार स्थानीयता से कट रहे हैं और वहां के स्थानीय उत्सवों में कैसेट व सीडियों में कैद डिस्को संगीत का शोर-शराबा ही सुनाई पड़ रहा है।

बाल सरोकार का पहलू भी भूमंडलीकरण की एकरूप संस्कृति में अपनी सृजनशीलता को त्यागकर रोबोटीकरण में तब्दील होता जा रहा है। पंचतंत्र की कहानी, तोता-मैना की कहानी, पौराणिक- धार्मिक कथाएं, दादा-दादी की कहानी, लोक कथाएं ये सब स्थानीयता के भीतर के इतिहास के जीवंत पारंपरिक सूत्र से जुड़ी होती हैं। भूमंडलीकरण के उदर से निकले बाजार के रास्ते आने वाले विदेशी फैंटम, डोरी मॉन, सुपर हीरो तकनीक के सहारे बच्चों में रातोंरात सर्वशक्तिमान बनने की चाह जगाते हैं। मनुष्य के संशय, दुर्बलता की चमक इन पश्चिमी मशीनीकृत कार्टूनों के आगे फीकी पड़ जाती है। यह फीकापन निःसंदेह मशीनीकृत व्यवस्था के आगे सृजनशीलता का फीकापन है।

भूमंडलीकृत संस्कृति का एक और नकारात्मक पहलू जिसका स्पष्टीकरण निर्मल वर्मा की रचनाओं के हवाले से किया जा सकता है। निर्मल वर्मा एक 'डेशिन फिल्म' की चर्चा करते हैं। नायक-नायिका एक फिल्म की शूटिंग करते हैं। दोनों में नजदीकियां बढ़ती है। शूटिंग के बाद दोनों एक मकान में रात बिताते हैं। नायक यह सोचकर कि प्रेयसी की आंखें खुलते ही उसे चौंकाने वाली खुशी मिले, वह अपनी प्रेयसी का पसंदीदा नाश्ता लाने तड़के भोर ही घर से निकल पड़ता है। जब वह मकान से निकला तब बिजली की जगमगाती रंग-बिरंगी रोशनी में उसके ठिकाने को आसानी से पहचाना जा सकता था। उत्साह और जोश में उसने मकान का नंबर याद करना भी जरूरी नहीं समझा। नाश्ते की तलाश में वह अपने ठिकाने से बहुत दूर निकल गया। आखिरकार उसको अपनी प्रेयसी के लिए मनपसंद नाश्ता मिल गया। लौटने को हुआ तब भोर का उजाला चारों ओर फैल चुका था। अपनी प्रेयसी के पास पहुंचने के लिए वह तेज कदमों से चलता जा रहा था। परंतु खिली धूप ने रात के उन संकेतों को पूरी तरह मिटा दिया था जिसके सहारे उसके ठिकाने तक पहुंचा जा सकता था। अब दिन के उजियाले में एक ही ढांचे के अनगिनत मकानों में अपना ठिकाना ढूंढ़ना उसके लिए संभव न था। वह घर ढूंढ़ता है पर सब घर एक जैसे, एक रूप-रंग के, वह ढूंढ़ता रहता है पर आखिरकार वह अपना मकान नहीं ढूंढ़ पाता। और यहीं फिल्म समाप्त हो जाती है। आशय है एकरूपीकरण की संस्कृति में जिसके लिए आप जीना चाहते हैं वही गुम/गायब हो जाता है।

बहरहाल, भूमंडलीकृत संस्कृति के कुछेक सबल पक्ष भी हैं। भूमंडलीकरण की एकरूप संस्कृति ने हाशिए पर रह रहे लोगों को केंद्र में लाने का काम किया है। इस नाते यह अस्मिताओं की राजनीति को शक्ति देने वाली संस्कृति है। इस संस्कृति ने हाशिए पर रह रहे तमाम अस्मिताएं जैसे- दलित अस्मिता, स्त्री अस्मिता, आदिवासी अस्मिता आदि को एक नया स्वर दिया है। इस संस्कृति ने परंपरागत सत्ता को अगर तोड़ा नहीं तो कड़ी चुनौती जरूर दी है। नवजागरण काल में न्याय और सत्य के आधार पर जो वैचारिक समानता और

समतामूलक समाज की परिकल्पना थी, 20वीं सदी में इस वैचारिकता को राजनीतिक परिदृश्य पर लाया गया। भूमंडलीकरण की संस्कृति ने इसे और आगे बढ़ाने में मदद की।

भूमंडलीकरण की एकरूप संस्कृति का दूसरा सकारात्मक पक्ष यह है कि इसने पूंजी के केंद्रीय चरित्र को तोड़ा है। इससे बड़े स्तर पर जो असमानता थी वह पाटी गई। केंद्रीकृत पूंजी एक अलग तरह की राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था का निर्माण करती है और विकेंद्रीकृत पूंजी एक अलग तरह की व्यवस्था का जिसमें समता की गंजाइश ज्यादा रहती है। अब कोई भी अरबपति हो सकता है। दलित वर्ग का कोई व्यक्ति भी अब करोड़पति/अरबपति हो सकता है। यानी विकेंद्रीकृत पूंजीवादी व्यवस्था ने सभी को अवसर की समानता दी।

तीसरी अच्छी बात जाति, नस्ल, लिंग पर आधारित व्यवस्था को वैश्वीकरण ने तोड़ा और समानता पर आधारित विश्व समाज के लिए एक जमीन दी। पहले हमारी पहचान लिंग, धर्म के आधार पर होती थी, अब एक व्यक्ति के रूप में।

इसी तरह बाजार ने पूरी दुनिया में जीने की इच्छा पैदा की। भारतीय संस्कृति में 50 की उम्र के बाद वानप्रस्थ माना जाता था। वैश्विक संस्कृति ने जीवन के प्रति जो अनिच्छा थी उसे उत्सव भाव में बदल दिया। विज्ञापन में कोइ भी चीज चीज नहीं उत्सव है। उत्सवधर्मिता किसी भी सभ्यता का स्वरूप है। उसे बाजार पूरा कर रहा है। विज्ञापन एक ऐंद्रजालिक दुनिया का अहसास करा क्षण को उत्सव में बदलने के लिए प्रेरित करता है।

स्त्री स्वातंत्र्य के संदर्भ में भी सकारात्मकता ढूंढ़ी जा सकती है। स्त्री को लेकर बाजार एकधर्मी है। नयी बाजार व्यवस्था ने किसी हद तक देह और मन के धरातल पर स्त्री को स्वतंत्र किया है। और आखिर में भूमंडलीकरण ने राष्ट्रीयता की अंधता/ तानाशाही/ कूप मंडूक परिस्थितियों को तोड़ने का काम किया है। ऐसा होने पर ही नए मनुष्य का जन्म हो सकता है। भूमंडलीकरण में आए विश्व ग्राम की परिकल्पना ने किसी राष्ट्र की तानाशाही को आर्थिक और नैतिक धरातल पर तोड़ा या चुनौती दी। समग्रतः ग्लोबलाइजेशन इतिहास की अनिवार्य प्रक्रिया का एक हिस्सा है जिसका स्वागत किया जाना चाहिए।

संदर्भ :-

जोशी, गोपा. (2011, दिसंबर). भारत में स्त्री असमानता. नई दिल्ली : हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय.

जोशी, पूरन चंद्र. (2000). आजादी की आधी सदी स्वप्न और यथार्थ. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. पृ. 90

नागार्जुन. (1975). तालाब की मछलियां. पटना : अनामिका प्रकाशन.

पाण्डेय,मैनेजर. (2008). साहित्य और इतिहास दृष्टि. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.

यादव, राजेन्द्र.; खेतान, प्रभा & दुबे, अभय कुमार. (संपा.). (2010). पितृसत्ता के नए रूप स्त्री और भूमंडलीकरण. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन प्रा- लि. पृ. 62-63

Allegories Used in *Goa* by Asif Currimbhoy

Kritanjay Tripathi*

krtripathi06@gmail.com

Literature has been the voice of people coming through the characters created by the writers. Ultimately any writer is what their atmosphere prepares them for. So, in a sense literature is history first hand. Now that there is an open debate about the authenticity and accountability of almost every historical events , it seems fair to see literature as alternate history without worrying about the authenticity and factuality of the event and person. (Roberts 2015)

When it comes to the Indian period of Nineteen Sixties and Seventies, Asif Currimbhoy is definitely the man who served this purpose of looking at the political and social events in their complexity and holistic view. The pen in his hand suddenly starts weaving history with the fusion of individuals and their personal emotions. Almost all is plays are the outcome of one or another social-political event, be it the escape of Dalai Lama from Tibet, Liberation of Goa from Portuguese, Assassination of Gandhi ji, Riots in Bengal, Liberation of Eastern Pakistan and many others. His variety of subjects is surprisingly vast and so is his treatment of it. He has written around thirty-one plays and unfortunately many of them are not in print.

Goa is one such play of Asif Currimbhoy that is directly influenced by the instant socio-political event i.e., the invasion of Goa by the Indian Army. On eighteenth of December 1961 Indian Army annexed Goa and after an easy fight got its Vijay (they named it operation Vijay) on nineteenth of December 1961. Just one day game. What happened there is a well told story in different history books with their concerned point of views. What I mean by this is that this whole event looks completely different depending upon who the narrator is. (Subramaniam). For instance, a Portuguese who

* **P h. D. Research Scholar, Department of English and M.E.L. University of Allahabad**

sees Goa as,"... home, no less than Lisbon where I was born" (Currimbhoy 11), may disagree to call it liberation but would rather address it as invasion of the Indian state over the land (Goa) that they had built and crafted over four centuries. At the same time, an Indian view would call it the liberation of the Goans from the colonial Portuguese whom they want to tell in face that; "You are exploiting us" (12)

The opinions go a little wider if one is open enough to listen to the third party involved i.e., the native Goans. They hold a view that may or may not collide with Portuguese as well as of Indian view.

Who can serve this purpose better than a man of literature? Playwright Asif Currimbhoy has very carefully touched all possible aspects of this socio-political event by weaving allegorical characters representing each shareholder of it. *Goa* is an inside out document of what happened in Goa in Sixties. It has two plots, the main plot has four major characters: Sinhora Miranda, Rose (daughter of Sinhora), Alphonso and Krishna. They are allegorical representation of Portuguese Goa - White Goa, Indian Goa- Brown Goa, Portugal and India respectively. The sub plot has many minor characters such as Portuguese Administrator and Goan Nationalist who provide direct political argument for the play.

Use of allegory is the key aspect of the play that gives it its beauty. Currimbhoy has avoided any direct comment on the matter as much as possible as he was conscious of his international audience as well. At the same time there is always a risk for any creative person to fall prey to indigenous prejudices while dealing with the issues of one's own ethnicity. Choosing allegory has proven to be an effective middle path for avoiding any conflict and standing close to impartiality. Asif seems successful in doing so as his message his layered in the characters itself.

My paper is an effort to put parallel lines among the four chief characters and their allegorical resemblance that they stand for. The hypothesis is that first major character Senhora Miranda stands for the Goa that is Portuguese in taste and colour, flamboyant, playful and beautiful. The Goa that is conscious of its beauty and the spell it casts. Second is Rose who stands for Goa that is Brown, different in colour and language, humble in her approach. Third is Krishna, representing India that has newly

got independence, influenced by Gandhian view and in the process of reshaping his consciousness. Fourth character is Alphonso representing Portugal in color, taste, consciousness and concerns.

Maria represents the Goa that carries the identity of White Goa and is proud of it. Here the term White Goa is used to denote the amalgamation of both identities that Goa had prior to its succession with India. The term White represents the European association of the land as Goa spoke and got administered in the Portuguese, rulers were of the same cultural continuum from their mother land, mixed but not totally mixed. Second term Goa represents the second part of this identity as the land where this European trait is exercised is not Lisbon but a place on the Indian subcontinent named Goa.

Speaking of the subtle nuances that Currimbhoy uses to represent Mariya as 'White Goa' is scattered across the play with beautiful analogies. It starts from the very opening scene when the playwright tells the age of Senhora. Her age is around forty, symbolic to the centuries Portugal spent in Goa i.e., more than four centuries. In the same scene she crosses the patio from the West side of the stage to the East. Perhaps through this Currimbhoy is trying to create an analogy for the identity She holds parallel to the identity of White Goa. This Goa has completed the journey of associating with its origin from the West side of the world i.e., Europe (hence White) to the cultural and racial identity to the East side of the world i.e., Asia/India.

This Goa that associates itself with White identity holds pride in it. It is beautiful, gracious and gentle, at least that's what it believes; "Senhora Miranda is fully aware of the effect she is creating. She walks slowly and carefully to avoid showing the effect of any tipsiness... a tone of feminine self-consciousness mixed with artful coquetry which she obviously enjoys." (7-8). A self-assumed idea of superiority is a problem that very much every European colony suffered with.

In the same scene she bows down to the vicar in a slight acknowledgement and passes a wide coquettish smile to the Portuguese administrator but passes through the local Goans without even noticing their presence and hides herself from the smuggler. This is a beautiful presentation of the obligation that the White Goa feels for. She feels

obligated to the Vicar who represents the Christianity and the Portuguese administrator is somebody she feels organically connected with, hence flirtatious toward him. She feels no connection towards the local people who are different in colour, language and religious identity so ignores their presence. She knows that smugglers know her original conflict of being in an alien land with alien identity and are using it against her so she avoids him.

In the course of the play this identity of White Goa that Senhora is symbolic of is presented by her longings to Lisbon that she so badly wants to visit despite the fact that she is born and brought up here in Goa and has never visited there. She is the one who holds enormous pride in what she is but occasionally is confused for her priorities and responsibilities. She knows that Portugal represented by Alphonso doesn't care about her but still can't help but to love him, pamper him and eventually plead him to leave her. She is dubious of India represented by Krishna who displays the qualities of non-violence. She is concerned of Brown Goa i.e., a Goa that associates itself with Indic identity after the freedom of India from British rule, represented by Rose. Her feelings for Rose are mixed, she feels connected and disconnected at the same time. Connected because she is the child of her own but different in tone and voice, nature and complexion. As she accepts; "they say it should give rise to love when it's cut out from your own flesh. But the colour is different. A constant reminder..." (26). She just can't ignore this obvious difference.

Rose is the representative of Brown Goa that has Indian likings and appearance. A Goa that was born after the independence of the Indian state in 1947. To mark this Currimbhoy emphasizes that; " The girl is dark looking and about fourteen with a beautiful innocent face and a strange voice " (*Goa* 8). Her age and complexion both are a direct connotation of her being Goa after 1947. Another symbolism that is used to represent her Indian origin is the story of her birth. She is not a legitimate child of Senhora as she is the result of the rape that Senhora was victim of. Here, through this analogy, perhaps the playwright is trying to suggest that Rose (Brown Goa) is the outcome of the forced relationship that Senhora (White Goa) had to go through with a native that she is not at all affectionate of. As Krishna puts it to Maria; "Rose couldn't

come out dark unless either your husband or your father was dark like me. In terms of colour, therefore, I was either your husband or your father." (42-43). Here this rape is symbolic to the influence that India casted in the White Goa through its Congress Committees and protests that gave birth to an identity in Goa that is Brown in taste and complexions as it associates itself with local identity.

While justifying the rape scene to represent the use of military and hard power by India, Currimbhoy highlights the dual standard that Indian state displayed. In his interview he admits that he too revisited this scene time and again but his commitment to extremes encourages him to represent it this way. In his suggestion to the state of India he says; "Don't dictate your life by moral dogmas when you know very well that running a nation doesn't always move along those lines. And don't develop the type of hypocrisy which I have found our country obsessed with in the years gone by- things are changing now." (Paul and Jacob). This shows the impartiality of the playwright for the event.

Keeping up with the allegory, Brown Goa (Rose) is attracted to India (Krishna) as both are of the same age and identity but the fear of the unknown lingers around her efforts to know and be one with it. Symbolically, in the introductory scene where Krishna is trying to communicate with Rose, she is unable to comprehend what he is saying as she is deaf and can't see him clearly either because it's gloomy. The Brown Goa feels the same helplessness as it is yet too young to understand what India is speaking about and stands for. In this scene Rose (Brown Goa) assures Krishna (India) that she will love him more if he doesn't touch her. Apart from these analogical presentations, there are repeated affirmations throughout the play that; "Rose is Goa and Goa is Rose"

Krishna represents the newly independent India that is trying to get hold of Goa that associates itself with native Goan identity as being part of the Indian subcontinent represented by Rose as Brown Goa. he is unlike the other Goan despite so much in common as Currimbhoy mentions; "this young boy is somehow different-looking from the other Goans around the place." (8). In one scene where Maria mentions him saying; "He is the stranger here. I can make it out. He is not like the others. Dark, yes, but not

like the others." (30). This also solidifies his physical appearance as a different one from local Goans.

Even in his character development he represents the essence of India. Initially he is the one who doesn't believe in violence; "I don't hit Maria, I don't commit violence either" (32), practicing the path of Gandhi ji of peaceful resistance but slowly and steadily getting attracted towards the use of power and its implications. Krishna who believed in non-violent ways became adamant to get Rose so much so that he goes to the length of raping her. This rape is symbolic to the military occupation of Goa by India, as discussed earlier.

The fourth major character is Alphonso who symbolizes the carefree and complacent Portugal. He believes Senhora Miranda (White Goa) to be his rightful possession and has an evil eye on Rose (Brown Goa). He is suspicious, bullying, violent, impermanently caring and pampering, depending upon the need of the hour. Seeing him this way changes the narrative of the play 'dramatically'.

So, on the basis of this detailed discussion this seems fair to conclude that *Goa* is a theatrical master-piece that has layered allegories. These allegories are biting and extremely accurate to the thematic as well as historical representation of the relationship of Goa with India along with the role of Portugal. Speaking of its success as a play Currimbhoy asserts; "by and large very few people have disliked *Goa*." (Paul and Jacob). Other critics such as P. Bayapa Reddy and K.R. Srinivasa Iyengar has also praised the theatrical brilliance of *Goa* as a play. Reddy says; "Acclaimed as a 'masterful and exciting theatrical event' doing 'honour to the western theatre.' *Goa* clearly demonstrates Currimbhoy's fine sense of the theatre and his skill as a dramatist." (*The Plays of Asif Currimbhoy* 92).

Looking at its success it is clear that through *Goa,* Currimbhoy delivered what he wanted to. As critic K.R. Srinivasa Iyengar puts it; "*Goa* is a beautiful and a frightening play, and the words – "Rose is Goa, Goa is Rose" must rumble in one's consciousness for long." (*Appreciations of Asif Currimbhoy* 10).

Works Cited

Currimbhoy, Asif. *Goa*. Calcutta, Writers Workshop, 1971.

Iyengar, K. R. Srinivasa. *The Dramatic Art of Asif Currimbhoy* in *Appreciations of Asif Currimbhoy.* Calcutta, Writers Workshop.

Paul, Rajender, and Paul Jacob. *Asif Currimbhoy Interviewed*. no. 48, Enact, December 1970.

Reddy, P. Bayapa. *The Plays of Asif Currimbhoy*. Calcutta, Writers Workshop, 1985.

Roberts, Adam. *Fredric Jameson*. 2015 ed., Routledge, 2000.

Subramaniam, Archana. "Goa Comes Home." *The Hindu*, 17 December 2015, https://www.thehindu.com/features/kids/read-all-about-operation-vijay/article8000271.ece.

The Binary of Nature and Culture as States of Being in Han Kang's "The Vegetarian"

DR. JAYA KAPOOR*

jayakapoor@allduniv.ac.in

Abstract

Looking at culture and nature as a binary the paper tries to understand the connection between culture as a refined existence and culture as a breaking away from our rootedness in nature. The social setup and the process of cultural development is a takeoff from the evolutionary cycle and now seems to stand independent of it. Though this is not so simple and there is not merely a relationship of dichotomy between nature and culture where nature represents being subsumed within the cycle of evolution. Actually, a two-way relationship exists where nature helps us learn ways of existence far more refined and evolved if we learn to observe nature closely and coexists.

The novel seems to start on the premise of the recent rising trend of vegetarianism across the world. But being a vegetarian is not just a going with the tide in the novel. It is a journey into a deeper rootedness of the being in nature. The protagonist Yeong-hye is drawn by Han Kang as an exploration of the words of a famous Korean poet Yi Sang "I believe that humans should be plants." The paper explores the journey of Yeong-hye which many can look upon as falling into an abyss of schizophrenia but which is also an attempt by the her to find herself connected with nature, her true identity, so that by the time the journey comes to a close, it is not she but the world around her that seems on the verge of insanity.

Key words: Nature and culture, Han Kang, The Vegetarian, rootedness, cultural evolution and environmental conditions, development and environment

* Asst. Professor, Dept. of English & Modern European Languages, Univ. of Allahabad

Introduction

Han Kang is a South Korean writer whose works have recently been translated and made accessible to the English-speaking world. *The Vegetarian* was the first novel to be translated. The novel seems to start on the premise of the recent rising trend of vegetarianism across the world. But being a vegetarian is not just a going with the tide in the novel. It is a journey into a deeper rootedness of the being in nature. The narrative which is built around the protagonist Yeong-hye, is drawn by Han Kang as an exploration of the words of a famous Korean poet Yi Sang "I believe that humans should be plants." (Shin,2016). The novel has been called “surrealistic and painterly portrayal of a woman’s personal rebellion” by Shin. The elements of surrealism that the above quote refers to could be taken to relate to the gradually developing sense of rejection of all that Yeong-hye finds contrary to the natural rhythms of human existence. When she is giving up on meat and then on food altogether, she is protesting against the imposed patterns of behaviour and response that assimilate as culture and the refusal of Yeong-hye to be stereotyped within these constraints as she moves closer to what she feels is the essence as nature.

The paper explores the journey of Yeong-hye which many can look upon as falling into an abyss of schizophrenia but which is also an attempt by the her to find herself connected with nature, her true identity, so that by the time the journey comes to a close, it is not she but the world around her that seems on the verge of insanity. The Oxford Reference defines culture as “the way of life of a people, including their attitudes, values, beliefs, arts, sciences, modes of perception, and habits of thought and activity. Cultural features of forms of life are learned but are often too pervasive to be readily noticed from within”. Looking at culture and nature as a binary the paper tries to understand the connection between culture as a refined existence and culture as a breaking away from our rootedness in nature.

Analysis

Daniel Nettle, in a very interesting paper “Beyond nature versus culture: cultural variation as an evolved characteristic”(Nettle, 2009) talks about a dichotomy between

evolution and culture. The social setup and thereby the process of cultural development is a takeoff from the evolutionary cycle and now seems to stand independent of it. But Nettle argues that there is not merely a relationship of dichotomy between nature and culture where nature represents being subsumed within the cycle of evolution. Rather, it is a two way relationship where nature and help us learn ways of existence far more refined and evolved if we learn to observe nature closely and coexists.

We did achieve a lot in terms of growth as a species and actually managed bypass the Darwinian model in a way through the social structure that we built. Through various stages of development we came to the present state of cultural evolution where science and philosophy, religion and technology, arts and medicine give us a cultural environment distinct from the natural environment. But in this phenomenal journey that reaches up to the modern idea of freedom and individualism makes us consumers of predefined norms of existence. Food, relationships and work are all expressions of our cultural makeup but it is essential for an individual to fall in line to be normal. The physical existence has changed but the entire exercise seems to end at the doorstep of liberation of the soul. Any deviations from the accepted patterns of behavior label you as a quirk and outsider. The person who deviates is not necessarily mentally unfit. There is a state that Foucault calls "Unreason"(Foucault 2010). But since cultural systems are more of less institutionalized, the individual cannot be left to violate the norms. The result is creation of more institutions that try to bring back the individual within the realms of accepted cultural codes. The care that the individual is given is must that this leads to is not physical, in fact it does not even look like violence but can still be more dangerous. We need to understand how this towing the line is a trap the increasingly homogenized culture is becoming. The local cultural heritages are giving way to a homogenous cultural patterns all over the world. Cultures had grown out of and thrived within particular natural environments. With the when culture becomes consumerism and nature a resource to cater to this consumerism, culture codes are increasingly cut off from the natural environment of a particular place.

The process of civilization had, till a couple of centuries back, had never really snapped the link of coexistence with nature. There is an increasing acceptance of

ancient knowledge as having scientific explanations and not merely a compendium of merely normative ideas. In fact disciplines like Yoga, Ayurveda, so many martial arts across the world are a result of conclusions drawn from a close observation of nature. The separation of the laws of nature and laws of culture are therefore a recent phenomenon. The premise that supports this dichotomy does not consider the basic interdependence of cultural evolution and environmental conditions. We learnt and grew as a culture to enhance our chances of existence and the proof of the success of this model of adaptation is that we flourish and thrive as a breed against all odds and overcome most environmental challenges. But the separation of science from social science led to a leap in terms of visible development of technology and also seemed to lead to a stronger and responsive social order. Scientific temper went along with a growth of individualism and democratic ideas. But the journey was along parallel tracks.

With increasing urbanization and industrialization, the nature culture link, that had led to the growth of knowledge till now, snapped somewhere. And instead of being a part of an entirety, nature became a resource for human civilization. That point onwards the tangent of culture kept moving away from nature at a rapid pace. Security and comfort confined us to increasingly shrinking spaces where huddled together we could be safe and easily provided for. Consumerism and mass production took away the meaning of real freedom without our being aware of it. Within these spaces, the idea of freedom became more and more abstract and intellectual notions of freedom to be measured by its utility for the individual. Culture becomes a byproduct of a system. *The Vegetarian* intends to explore if this lost link between culture and nature could be reestablished.

Within the tradition of a society where being a non-vegetarian is not just a choice but a norm of culture, if someone decides to turn a vegetarian, it is not just making a food choice but also asserting an identity in conflict with the accepted social behavior. Till the time Yeong-hye was seen as following a current fashion of giving up eating meat, her choice was accepted. But slowly as she reveals her complete rejection of non-vegetarian food included not just not eating but also not cooking or even storing

it in her house, she is seen to cross the boundaries of acceptance of behavior. This is the moment when her protest becomes manifest and express. It is also thereby seen as an unpardonable affront to the husband and a shame for her family. She faces not just criticism but intense psychological and physical violence from her husband and her parents. Instead of accepting her repulsion as a natural abhorrence for meat, it is taken as a sign of rebuttal of social norms and a rejection of the patriarchal authority of her husband and her father. This is where I see normative social order had come to snap the ties between natural human instinct and social cultural norms. The individual could be allowed freedom so far as it does not entail a violation of established cultural patterns of behavior. Her father's violent attempt to feed her meat and the silent complicit behavior of the family lead her to attempt suicide and a nervous breakdown which is read as having signs of schizophrenia.

Had the story stopped here, it could have been interpreted along rather simple ideas of gender and identity. The attempt to persuade her to fall in line are typically symptomatic of the patriarchal order. But the story moves further and delves deeper into the intricacies of the cultural structure. The relationships of the family that hold an individual are crossed and the larger social network is explored now. The family is an immediate and visible force regulating our cultural integration with our society. The binary of nature and culture would not have probably been manifested very strongly since there is no attempt by Yeong-hye so far to connect her decision to turn vegetarian with her environment. Till now she is delving within her self, trying to understand and come to terms with her instinctive response. She is able to connect a part of it to the vague memory of the punishment her father gave to their pet dog when she was a child. The trauma and the shock of seeing the dog brutally dragged along with the bike till he died and the feast that the family and friends had of the beast comes up vividly at this point but it could not be called the trigger. But she transcends this boundary with her attempt at suicide and her journey moves into the larger and looser structure of relatives, friends and acquaintances. This is also the first level of cultural makeup as an evolution from the purely evolutionary state of nature. It is the primary defense and barrier that disrupts the Darwinian model of evolution.

By the end of the section Yeong-hye has been sent to the hospital after her attempt at suicide and she is also being given psychiatric treatment. The forces have begun to act and she is labeled and slotted as abnormal and sick, therefore, in need of a treatment of both body and mind.

Yeong-hye's only link with her family is now her sister, In-hye. And she is also separated from her husband who thinks he has been cheated by her choice of turning a vegetarian. With this we enter into the second phase of our interaction where Yeong-hye comes in contact with In-hye's husband. He was initially introduced as an artist who did not seem to do a lot of work and the burden of household was borne by In-hye. But now we discover him to have a soul that is as much restless and as much harbouring the sense of being the outsider as Yeong-hye. His prompt reaction to Yeong-hye's suicide attempt was interpreted at that point as a trait of his leadership skill. It is later rather found to be an act of instinctive reaction borne from unacknowledged attraction to Yeong-hye. He has an instinctive sympathy and understanding of the decision of Yeong-hye. His relationship with Yeong-hye is not sexual. His fascination for the birth mark on her body that triggers his imagination is more driven by an artistic urge than a sexual seeking. His offer to picture her with flowers painted all over her body is not a sexual overture but an attempt borne from a creative urge to express his deep imaginative turbulence. He does not initially make the video with himself. Yeong-hye's calm acceptance is as much without reading any implied offers. For her it does not matter whether the flowers are painted on J's or his body. Yeong-hye's reaction to his friend J during the shoot is also a moment of complete uninhibited response to the painted flowers and not to the person that he is. What drives the entire episode is a natural response rather than an orchestrated social episode. She feels in complete communion with the flowers on her body and is responding to the flowers. He understands this state of mind. She is not mentally deranged; she is in communion with herself as a natural being. The discovery of the episode by In-hye is once again the intrusion of the social order into the natural order. And the reaction of the people is along the lines of normative social mores. They cannot understand the events as spontaneous. For them it is illegitimate and weird. And their discovery by In-hye, the enormity of the interpretations to which the act will be put,

leads to his suicide as the first reaction. And for both of them the act of spontaneity is interpreted as a symptom of madness. This leads to her being sent to a rehab again. In much of the story so far we need to ask ourselves again and again why should she be thought of as psychologically unstable. Why cannot we accept her behavior and choice? Why cannot she be accepted as in a realm between madness and reason, the realm of unreason? Even In-hye realizes and later admits that the entire episode does not have any overt sexual implications. It was intricately linked to the journey the painted flowers seem to be undertaking. And the result was not vulgar or obscene but an artistic masterpiece – the high point of an artist's creativity.

Yeong-hye's journey has meanwhile moved more inwards than ever. Her attempt to become a plant is an expression of protest against violence but can also be simultaneously viewed as "a deep despair and doubt about humanity" (Shin, 2016). She is barely aware of her surroundings but her dialogue with nature has touched a new level. Her communication with herself has transformed into a communication with nature. She has dropped all inhibitions and does not feel the need to even cover herself. Standing within the normative social structure it becomes easy to interpret her behavior as madness but if we look at the world from her perspective there is so much she feels, so much that engages her that we feel compelled to ask - Is this madness? Her complete giving up of food is not a deprivation. It is simply a choice. The attempts to force-feed her are traumatic for her. If she has made a choice to turn vegetarian, to give up food, to explore her innermost self why should it be looked upon as a quirk? The concerned and engaged behavior of the social structure represented by the rehab center and its doctors and counselors torments her in the name of restoring her health and taking care of her. It is extremely insensitive and goes to the extent of inflicting violence in order to make her do what they see as normal.

It is in this lack of a choice where the institutions of society and religion are completely at loggerheads with nature. It did begin in good faith but somewhere the norms became oppressive. In-hye's husband considers death a better option to having to face the world. The last part is seen through the eyes of In-hye who realizes that her sister might not be mad, might not be sick, might not be unhappy giving up on food

after all. Her own life has been spent making brave choices but she has never really been in a dialogue with herself the way Yeong-hye seems to be. She never did what she wanted to do. Rather it was what always what she felt was expected of her. Her sense of responsibility never allowed her to live even a single moment of her life that way she wanted to. This moment of realization is what Han Kang has called as "moments of truth which cannot be told using traditional modes of narration" (Shin, 2016). On the other hand, she increasingly feels that Yeong–hye is not only in communion with herself and with the essence of nature, even her loss of social awareness is a boon, a blessing.

We go back to the lines that inspired the novelist, "I believe that humans should be plants" as Yeong-hye gradually develops not just an aversion to food but moves out of the conscious communication with the people in the rehab and into a close communion with the trees. The more attempts are made to force feed her, the more she withdraws from human contact and feels in harmony with the trees. When In-hye goes to meet her in the rehab, she sees how the so many in the center are people with shattered souls who need human understanding and not clinical care. Foucault (2010) talks about a similar need in his *Madness and Civilization* when talking about asylums and the clinical counseling they give as opposed to the sense of a meaningful existence that religious congregation can impart.

To begin with, Yeong was merely making a choice to turn away from meat. The more the society reacts to her choice, the more she retreats and withdraws. When left to be herself, she is happy but when she is pushed into a corner, she crumbles.

Foucault says that unreason remains beyond the bounds of psychoanalysis. He says it can "neither liberate nor transcribe" (2010) the soul and even cannot explain the idea of unreason since it has neither the tools nor the capacity to consider what is beyond both empirical and normative so far.

The question then comes as to who is wrong, and who is mad. Han Kang had been going through what she calls "questions about human violence and the (im)possibility of innocence" (Shin, 2016) while she was writing the book. If close

communion with nature, following natural instincts, learning from close observation of nature had once made us cultured and refined, how does that same behavior pattern make us mad now? We cannot look for a healthy culture deprived of its communication with nature. it is not about a modern assertion of freedom and individualism. It is active empirical instinct that has led to all that humanity has been able to achieve. It is not the freedom drawn from a political right or a intellectual or human right it is a far more basic natural right.

References

Bird Rose, Deborah, Thinking like a mantis, deborahbirdrose.com

Foucault, Michel, The Foucault Reader , Paul Rabinow ed. , Vintage, 2010

Kang, Han, The Vegetarian, . Random House, 2016

Nettle, Daniel, "Beyond nature versus culture:cultural variation as an evolved characterstic", Journal of the Royal Anthropological Institute, 223-240, 2009

Oxford Reference, https://www.oxfordreference.com/view/10.1093/oi/authority.20110901080526139 .

Shin, Sarah, Smith, Deborah(trans), https://www.thewhitereview.org/feature/interview-with-han-kang 2016

समकालीन राजनीति और नागार्जुन का साहित्य

डॉ. देवीलाल प्रसाद*

drdevilalprasad@gmail.com

भले ही कुछ साहित्यकार अपने लेखन का विषय बनाने में तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं को अछूत मानते रहे हों, लेकिन राजनीतिक साहित्यकार के रूप में बाबा नागार्जुन की विशिष्ट पहचान बनी है। किसी भी राजनीतिक घटना को अपने साहित्य का विषय बनाने में उन्हें कोई परहेज नहीं रहा है।

बाबा का व्यक्तिगत जीवन हो या उनका काव्य-साहित्य या उपन्यास-साहित्य सभी देश-विदेश की राजनीतिक घटनाओं से प्रभावित हैं । काशी में पढ़ाई करते समय ही बाबा अखबार पढ़ने लगे थे। देश की राजनीतिक हलचल से वाकिफ होने लगे थे। गाँधी, तिलक और सुभाष से परिचित - प्रभावित हुए थे। बाद में लंका में स्थित 'विद्यालंकार परिवेण' से 1938 के बीच बिहार लौटकर सहजानंद के किसान आदोंलन में उन्होंने भाग लिया। दो वर्षों में ही तीन बार जेल की यातनाएँ झेलनी पडी। पहली गिरफ्तारी छपरा के किसान सत्याग्रह के मामले में हुई। बाद में चम्पारण के किसान आंदोलन में सक्रिय भाग लिया। 1974 ई. में भी जय प्रकाश नारायण के नेतृत्व में छेड़े गये आदोंलन में उन्होंने सीधी हिस्सेदारी ली। "सत्ता प्रतिष्ठान की दुर्नीतियों के विरोध में एक जनयुद्ध चल रहा है, जिसमें मेरी हिस्सेदारी सिर्फ बानी की नहीं कर्म की हो, इसलिए मैं आज अनशन पर हूँ, कल जेल भी जा सकता हूँ।" और वे आपातकाल के पूर्व ही जेल में डाल दिये गए। जेल में जब आंदोलनकारियों के बेनकाब चेहरों को निकट से देखा तब जाना कि यह आंदोलन सिर्फ "इंदिरा हटाओ, सत्ता हथियाओ" के लिए किया गया आंदोलन है। नागार्जुन माफी माँगकर जेल से बाहर आये और उन्होंने कहा - "मैं वेश्या की गली में जाकर लौट आया और तमाशा घुस के देखा।"

इसका मतलब यह नहीं कि बाबा राजनीतिज्ञ हैं। वे राजनीति करते हैं। सच तो यह है कि बाबा का राजनीति से वैसा कोई सीधा सरोकार नहीं है, किन्तु जहाँ कहीं भी राजनीतिज्ञों की दोरंगी नीति दिखी, उन्होंने उनकी खूब धुलाई की है। अपनी रचनाओं में बड़ी साफगोई के साथ उन्होंने अपना मंतव्य रख दिया है। राजनीतिज्ञों पर या राजनीतिक घटनाओं पर अपना मंतव्य देते समय बाबा हकलाते नहीं हैं - "साफ कहूँगा, क्यों हकलाऊँ।"

---

* **स्नातकोत्तर हिन्दी विभागाध्यक्ष, सिमडेगा, महाविद्यालय, सिमडेगा, राँची विश्वविद्यालय, राँची, झारखण्ड**

किसी भी राजनीतिज्ञ के साथ उन्होंने मुरौवत नहीं की है। यही कारण है कि भारत में समाजवादी क्रांति की बेसब्री से प्रतीक्षा करनेवाले बाबा 'कार्ल मार्क्स की दाढी में जूँ' बताते हैं। ''द्वंद्वात्मक भौतिकवाद तुम्हारा तुम्हें मुबारक'' कहते हैं। ''क्या है दक्षिण क्या है वाम/ जनता को रोटी से काम '' कहते हैं।

विश्व में कहीं भी राजनीतिक घटना घटी है, बाबा का चेतन मन भौगोलिक सीमा को लाँघकर पीड़ितों का पक्ष लेता है और इसके जिम्मेदार राजनीतिज्ञों की बखिया उधेड़ता है। अफ्रीकावासियों पर किये गये अमानुषिक अत्याचार पर तिलमिला कर बाबा ने गोरे बौनों की साजिश को बेनकाब किया है -

अफ्रीका की काली मिट्टी लाल हो गयी आज/गोरे बौने की साजिश विकराल हो गयी आज.../मैं सुनता हूँ कीलों वाली बूटों की ठनकार/मैं सुनता हूँ जंग लगी हथकड़ियों की झनकार/मैं सुनता हूँ राष्ट्रसंघ की छलनामय चुमकार/मैं सुनता हूँ बंधु तुम्हारा प्रतिरोधी हुंकार ... 'जयति कोरिया देश' कविता में भी बाबा ने 'अमरीकी शैतान की खूनी' पजों से 'कोरिया मुलुक' को खून से लथपथ दिखाया है - गली-गली में आग लगी है, घर-घर बना मसान/लील रहा कोरिया मुलुक को अमरीकी शैतान ...

इसी तरह अमरीकी 'शैतानों' ने वियतनाम में जो खून की नदियाँ बहाई, उन शैतानों पर प्रहार करते हुए अपनी कविता ' देवी लिबर्टी' में बाबा ने कहा -

पिछली रात सपने में देखा तुमने/लिंकन का दिव्य प्रेत लिपटा पड़ा है

देवी लिबर्टी की प्रतिमा से.../रेवरेंड मार्टिन लूथर किंग, लेकिन

भारी भरकम यक्ष-सा/जम गया है जाँनसन के कंधो पर

आह, वह कभी नहीं उतरेगा/रहेगा सवार प्रेसीडेंट की गर्दन पर।

इस प्रकार चीन में माओं को धक्का देनेवाली राजनीति के प्रशंसक 'हुआ' हों या आइजन हावर, जाँनसन हों या रजनी पामदत्त। सभी विदेशी आकाओं की छवि बाबा ने आँकी है। देश का भी राजनीतिक परिदृश्य बाबा की आँखो के सामने है। तात्कालिक राजनीतिक घटनाओं पर उन्होंने बड़ी बेबाकी से अपना मंतव्य स्पष्ट किया है।

गाँधी पर, उनकी विचारधारा पर और उनके अनुयायियों पर बाबा ने तीखा प्रहार किया है। इस संबंध में 'तीनों बंदर बापू के' शीर्षक कविता स्मरणीय है- ''तीनों बंदर बापू के/बापू के भी ताऊ निकले तीनों बंदर बापू के।''

यहाँ बाबा ने गाँधी जी उनकी विचारधारा और उनके अनुयायियों पर तीव्र प्रहार किया है, किंतु गाँधी जी के निधन पर तर्पण और शपथ कविताओं में उन्होंने बापू के हत्यारों की खिंचाई करते हुए तात्कालिक राजनीति का मूल्यांकन किया है - ''सभी साफ हो गया आज, जनता सचेत है/कोटि-कोटि कंठो से निःसृत

सुन-सुनकर आक्रोश/भगवाध्वजधारी दैत्यों के उड़े जा रहे होश।'' बाबा भगवाध्वजधारियों को 'दैत्य' कहते नहीं हिचकते। इन दैत्यों के भी होश उड़े जा रहे हैं। जनता में आक्रोश है, साथ ही वह सचेत भी है। बाबा आंदोलित हैं, उनके मन में हलचल है। तात्कालिक राजनीतिक घटनाओं पर साफगोई के साथ अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। बापू एवं उसकी नीतियों पर प्रहार करनेवाले संवेदनशील कवि बाबा की आँखें आज नम हैं- ''रोता हूँ लिखता जाता हूँ / कवि को बेकाबू पाता हूँ।'' बापू के आदर्शों की बैसाखी पर चलने वाली कांग्रेस सरकार बापू के हत्यारों के विरुद्ध उमड़े जन सैलाब को रोकती है- ''शुरू हो गया नेताओं का -/मधुर बुझावन, मधुर रिझावन/शांत रहें हम/हत्यारे को सजा मिलेगी/जो कुछ भी करना है सब सरकार करेगी।''

जिस गाँधी ने स्वाधीनता संग्राम के लिए जनता को संगठित किया उनके निधन पर कांग्रेस सरकार द्वारा जनता को भ्रमित करने के लिए उपदेश देना कि सरकार ही सजा देगी, आजादी के चरित्र को कलंकित करता है। नागार्जुन ने कहा कांग्रेस सरकार के वक्तव्य से भारत के भावी राजनीति पर से पर्दा उठता है।

आगे चलकर क्या होनेवाला है उसकी उन्होंने झलक दिखाई है। राजनीतिज्ञों की तिकड़मी चाल को बाबा बखूबी समझते हैं, तभी तो कहते हैं कि संकट की घड़ी में भगवाध्वजधारी चुप नहीं बैठेंगे- ''आवेगा रह-रहकर हमको भरमाने/ अब खाल ओढ़कर तेरी सत्य - अहिंसा की।'' इसी तरह 'भूदान आंदोलन' के समय की लिखी 'हर गंगे' नामक कविता में उन्होंने बिनोबा भावे के बारे में कहा है - ''ऊपर बंजर और शमशान/संत बिनोबा पावे दान.../हर गंगे।''

अपने देश में प्रजातंत्र हैं, प्रजातंत्र यानी जनता का शासन। प्रजातंत्र में जनता का, जनता द्वारा जनता के लिए चुनी हुई सरकार काम करती है, किंतु बाबा ने जनता के प्रतिनिधियों की काली करतूत का कच्चा चिट्ठा खोलकर रख दिया है।

चुनाव के लिए टिकट पाने के एक दृश्य को उन्होंने शब्दायित किया है, 'रसलिन' के प्रसिद्ध मुहावरे को नये संभर्द में रखकर। कविता का शीर्षक है 'आये दिन बहार के'। पंक्तियाँ हैं- स्वेत-स्याम- रतनार अँखिया निहार के/सिण्डीकेटी प्रभुओं की पग - धूर झार के/लौटे हैं दिल्ली से कल टिकट मार के/खिले हैं दाँत ज्यों अनार के/ आये दिन बहार के।''

यह कविता राजनीतिक विद्रूपता का पर्दाफाश ही नहीं करती, बल्कि चुनौती भी देती है। आजकल उम्मीदवार वह नहीं चुना जाता जो ईमानदार हो। इसका फैसला सोने और चाँदी की थैली से किया जाता है- ''चोंच में लिए टिकट/ सीधे आए निकट/मामला था विकट/चुनने थे उम्मीदवार/बेरियाँ दीं उलट/हड्डियाँ लाये थे, दिखलाएँ झट/शुद्ध परमार्थी हुए प्रगट - हुक्म मानने को तैयार/गाँधी ने सोचा, हल करेंगे मुल्क का/ये ही संकट.../यही है असली उम्मीदवार।'' चुनाव से पहले तिकड़मबाजी के साथ-ही-साथ बाबा ने चुनाव जीतने के बाद जनप्रतिनिधियों के कलंकित चरित्र को बेनकाब किया है। बंदूक की नोक पर चुनाव जीतने के बाद की स्थिति का बाबा ने सुन्दर चित्र उतारा है। उनकी एक प्रसिद्ध कविता है- ''अमलेन्दु 'एम. एल. ए.।'' माननीय

एम. एल. ए. साहब भागलपुर की 'मकरंद गोष्ठी में सादर आमंत्रित हैं- '' आज अमलेन्दु के सम्मान में/गोष्ठी हुई थी आहूत /पधारे थे सानुकंप संस्कृति के आप अग्रदूत।'' दमन के लिए शासन बहुत - सी बंदूकें इस्तेमाल करता है। बाबा ने उन सबको मिलकर एक बड़ी बंदूक बना ली है जो नभ में विपुल- विराट सी छा गयी है। नीचे क्षुब्ध जनता का समूह है, जिसे उन्होंने कंकालो की हुक कहकर मूर्तिमान कर दिया है - '' खड़ी हो गई चाँप कर कंकालों की हूक/नभ में विपुल विराट - सी, शासन की बंदूक।''

चित्रण सौन्दर्य का यह कौशल अन्य कवियों की राजनीतिक राचनाओं में नहीं है। ''चीलों की चली बारात'' कविता में बाबा सियासत के बाजीगरों पर बरस पड़ते हैं। 'सिडिकेट' को उन्होंने 'धूर्त्तों का प्रच्छन्न गिरोह', 'नर भक्षी बाघों का समुदाय' कहा है। इस प्रकार बाबा ने पूरी अक्खड़ता के साथ तिकड़म, छल-प्रपंच और जनता को भरमाने वाली नीतियों पर प्रहार किया हैं। नागार्जुन प्रेमचंद की तरह बहुत कालांकित रचना करते हैं। आजादी के बाद की विषमता को वे छिपाना नहीं चाहते।

'26 जनवरी, 15 अगस्त' कविता की पंक्तियाँ स्मरणीय है -''किसकी है जनवरी, किसका अगस्त है?/कौन यहाँ सुखी है, कौन यहाँ मस्त है।'' 'प्रजातंत्र का होम' कविता के दूसरे बंद में नागार्जुन सत्ता पक्ष का चरित्र सामन्त वर्ग का बताते हैं। उस वर्ग का वर्गीय व्यापार रहा है- लाश बेचना, जादुई ताश फेंटना या 'इन्द्रजाल की छतरी ओढ़ना। कांग्रेसी शासक इसी व्यापार के नाते 'खादी पहने डोम' कहलाता है - ''सामन्तों ने कर दिया, प्रजातंत्र का होम/लाश बेचने लग गये, खादी पहने डोम।''

भारत स्वाधीन हुआ, किन्तु ब्रिटेन की महारानी की पालकी का बोझ भारतीय जनता के कंधे पर ही रहा। भारत की गरीबी और बदहाली के लिए ब्रिटेन जिम्मेवार है, उसी ब्रिटेन से भारत के नेताओं की मैत्री देखकर बाबा के हृदय में तीव्र आक्रोश है। अपनी कविता 'आओ रानी हम ढोयेंगे पालकी' में बाबा ने रानी एलिजाबेथ के स्वागत में खड़े भारतीय शासक वर्ग की समझौतावादी नीति को आक्रमण का विषय बनाया है- ''आओ रानी हम ढोएँगे पालकी/यही हुई है राय जवाहर लाल की।''

1967 ई. में कांग्रेस की स्थिति बूढ़े शेर जैसी थी किन्तु 1977 ई. के आते-आते 'जगतारिणी' के छल-बल कौशल से स्थिति यह हो गयी कि - ''सविंधान की रूई रूपहली भद्रलोक धुनते हैं/ देवि, तुम्हारे स्टेनगनों से तरुणमंड भुनते है।''

डायन का गुर सीखकर आँत चबानेवाली उस 'जगतारिणी' के फरेब पर बाबा कहते हैं -''महँगाई की सूपनखा को कैसे पाल रही हो/ सत्ता का गोबर जनता के मत्थे डाल रही हो।'' इन्दिरा गाँधी की तिकड़मबाजी से तंग आकर बाबा कहते हैं - क्या हुआ आपको ?/ क्या हुआ आपको ?/ सत्ता की मस्ती में,/ भूल गयी बाप को ?/ इन्दुजी, इन्दुजी क्या हुआ आपको ? ऐसा कहकर बाबा ने इंदिरा पर प्रहार किया है। नेहरू कांग्रेस को भी बाबा ने नहीं छोड़ा है'' - '' गालियाँ छलकतीं, बैलों की जोड़ी को देते वोट मगर / हम गाँजा ही बेचा करते, लेते खादी की ओट मगर।''

नागार्जुन की एक प्रसिद्ध कविता है 'मंत्र'। 'मंत्र' कहते ही मन में श्रद्धा उत्पन्न होती है और वैदिक काल से लेकर समस्त संस्कृत काव्य एवं धर्मशास्त्र के मंत्रों की स्मृति मन में जागती है। सर्वाधिक पवित्र एवं निष्ठा से ओतप्रोत। कविता की पहली पंक्ति - ओं शब्द ही ब्रह्म है - भी उसी परंपरा का स्मरण कराती एक गंभीर पंक्ति है। फिर शुरू होता है विद्रूप - ओं वक्तव्य, ओं उद्गार ओं घोषणएँ ...। फिर पूरी कविता विशेषकर राजनीतिक पक्षो में विराजमान विद्रूप एवं वीभत्सता को उजागर करती है। भारतीय परंपरा के सर्वाधिक पवित्र एवं गंभीर रूप - विधान का उपयोग नागार्जुन समकालीन भारतीय जीवन के सर्वाधिक अपवित्र एवं अराजक पक्ष को व्यक्त करने के लिए करते हैं। इससे बहुत गहरा व्यंग्य पैदा होता है, जो तमाम छल-छंद, मिथ्या, बकवास पर चोट करता हुआ पाठक को यथार्थ की नयी, सर्वथा भिन्न अनुभूति कराता है। 'मंत्र' की कुछ पंक्तियाँ स्मरणीय हैं - ''ओं शेर के दाँत, भालू के नाखून, मर्कट का फोता/ओं हमेशा हमेशा हमेशा करेगा राज मेरा पोता/ ओं छूः छः फूः फूः फट् फिट् फुट्/ ओं शत्रुओं की छाती पर लोहा कुट्/ ओं भैरों, भैरों, ओं बजरंग बली / ओं बंदूक का टोटा, पिस्तौल की नली / ओं डालर, ओं रूबल, ओं पाउण्ड / ओं साउण्ड, ओं साउण्ड, ओं साउण्ड।''

इस प्रकार हम देखते हैं कि नागार्जुन के काव्य-साहित्य का एक बड़ा भाग देश-विदेश की राजनीतिक घटनाओं का दस्तावेज है। तात्कालिक राजनीतिक घटनाओं पर बाबा की प्रतिक्रिया का पूर्ण ब्यौरा उनके काव्य-साहित्य में मौजूद है।

बाबा के उपन्यास-साहित्य की भी यही स्थिति है। 'रतिनाथ की चाची' में किसान आंदोलन की असफलताओं का कारण बताते हुए उस समय की राजनीतिक परिस्थितियों से हमें अवगत करा दिया गया है। गाँव के लोगों से दुर्व्यवहार करने वाले राजा बहादुर दुर्गानन्दन सिंह को तारा चरण कहता है- ''जमाना बदल गया है, हम जब अंग्रेज की नाक में कौड़ी बाँधते हैं, तो राजबहादुर की क्या बिसात।'' परिस्थिति को देखकर जमींदार गिरगिट की तरह अपना रंग बदलता है। फलतः जमींदारों के प्रलोभन में आकर नेताओं की अवसरवादिता के कारण आंदोलन चौपट हो जाता है। लेकिन प्रसिद्ध युवा नेता ताराचरण जमींदार से इतना मनवा लेना है कि खेत किसानों के जोत में रहेंगे।'' आजादी से पहले कांग्रेस जनता को 'रामराज्य'का स्वप्न दिखाती थी। रामराज्य यानी सुखी राज्य। आत्याचारों से मुक्त, प्रेम, भाईचारे और समानता पर आधारित राज्य। किन्तु आजादी के बाद जनता का सपना टूट गया। बाबा के 'बलचनमा' उपन्यास में भारतीय जीवन की यह गंभीरतम असंगति व्यक्त हुई है। लहेरिया सराय, दरभंगा में फूलबाबू जिस आश्रम में रहते हैं, वहाँ खाने की पंक्ति में बैठा बलचनमा कराकुल की तरह दिखने वाले रसोइया को देखकर सोचता है - ''मुलुक से अंग्रेज बहादुर चला जायेगा, फिर यही बाबू-भैया लोग अफसर बनेंगें और तब इस बाबाजी महाराज का भी उद्धार हो जायेगा। इसके हाड़ो पर मांस चढ़ेगा। चेहरे पर चिकनाई आवेगी। बूढ़ा - सूगा हो जाने पर पढ़ गुन तो क्या सकेगा मगर बाकी आराम-सुभिस्ता इस रसोइया को भी मिलेगा। सोराज होने पर क्या होगा ? यह बात मैंने एक बार पटना में महेन बाबू से पूछा था। उन्होंने जवाब दिया था भैया, क्या बाताऊँ ? महेन बाबू ने यही कहा था कि सोराज होने

पर सबके दिन लौटेंगे, सबका भाग चमकेगा। हमारा भी, तुम्हारा भी।'' बाबा ने परतंत्र भारत में ही आजादी के बाद के भारत की यथार्थ तस्वीर दिखाई है - ''स्वराज मिलने पर बाबू भइया लोग आपस में ही दही - मछली बाँट लेंगे ... हम लोगों के हिस्से में सीठी ही सीठी पड़ेगी।''

बाबा की भविष्यवाणी बिल्कुल सही साबित हुई। आजादी के बाद कांग्रेस का घृणित रूप सामने आया। तभी तो बलचनमा अपनी बहन के कौमार्य भंग करने की कोशिश करनेवाले छोटे मालिक के कोप से निजात पाने के ख्याल से जब फूल बाबू से निवेदन करता है तो वे कहते हैं - ''मुझे तो अब गाँव-घर से कोई तालुक नही रहा। माँ और बाबूजी भी अब मुझसे हार मान बैठे हैं। ... पीसी (फूफी) के यहाँ दो साल से मैं नहीं गया हूँ। पीसा (फूफा) से भेंट मुलाकात किये तीन बरस बीत गये हैं ... तुम्हारा तो आपस का झागड़ा है, बहिया-महतो का। इसका निबटारा भी तुम्हीं दोनों कर लोगे। इसमें मेरी कोई जरूरत नहीं। जा, जाकर अपने मालिक के ही पैर पकड़। वह तुझे माफ कर देंगे।''

रामराज्य का स्वप्न दिखाने वाले कांग्रेसियों की यही असलियत है जिसे बाबा ने बेपर्द किया है। बलचनमा सुराजियों की दुरंगी चाल को अच्छी तरह समझ जाता है। वह अच्छी तरह जान गया कि - ''सोराजी हो गए थे तो क्या, थे तो आखिर बाबू-भैया ही न! गरीब-गुरबा का दुख ये लोग क्या जानें।'' अब वह समझा गया कि सुराजी बाबू-भाइयों से अपने हक के लिए लड़ना चाहिएं। वह कहता है - ''जैसे अंग्रेज बहादुर से सोराज लेने के लिए बाबू भैया लोग एक हो रहे हैं, उसी तरह जन-बनिहार, कुली-मजदूर और बहिया-खबास लोगों को अपने हक के लिए बाबू-भैया से लड़ना पड़ेगा।'' और बलचनमा सोशलिस्ट विचार का पूरा समर्थन करता है। वह उस पार्टी का भोलंटियर बनकर राजनीति में सक्रिय भाग लेता है। 'नई पौधा' में बाबा ने नयी पीढ़ी में उभरती नयी राजनीतिक चेतना को सकार किया है। नवगछिया के नवयुवकों ने 'बम पार्टी' बनायी है, जो अन्याय का विरोध करती है। यही बात 'बाबा बटेसर नाथ' मे दिखाई देती है। इस उपन्यास में जैकिसन जमींदार के षडयंत्र से बचने के लिए कांग्रेसी सरकार के विरुद्ध क्रांति करता है और कम्युनिस्ट पार्टी की सहायता से विजयी होता है। बाबा ने अपनी इस रचना में स्वाधीनता की लड़ाई का जीवन्त वर्णन किया है - ''असहयोग का वह जमाना अद्भुत था। देश का हर हिस्सा नई चेतना से स्पन्दित होकर अंगड़ाइयाँ ले रहा था। आसाम, बंगाल रेलवे में हड़ताल हुई। मदनापुर के किसानों ने लगान बंदी का आंदोलन छेड़ दिया। दक्षिण मालाबार के मोपल ने बगावत शुरू कर दी। पंजाब में सरकार के विरुद्ध महन्तो के खिलाफ सिक्खों की घृणा भड़क उठी।'' 'वरूण के बेटे'' में बाबा ने मलाही गोंढियारी ग्राम के अंचल से सम्बद्ध मछुआरों की राजनीतिक स्थिति का सजीव चित्र प्रस्तुत कर उपन्यासकार ने राजनीतिक चेतना का उल्लेख किया है। 'दुखमोचन' उपन्यास भी राजनीतिक वातावरण से अछूता नहीं है। गाँव में सरकार की योजनाओं के क्रियान्वयन के लिए दुखमोचन हमेशा आगे रहता है। 'हीरकजयन्ती' में बाबा ने शासक वर्ग की भ्रष्टता, चरित्र-हीनता और उसमें व्याप्त स्वार्थपरता का न केवल खुला चित्रण किया है, बल्कि उस पर तीखा प्रहार भी किया है। बाबा ने मंत्री नरपति बाबू की हीरक जयन्ती के बहाने शासक वर्ग को खूब फींचा है। मंत्री महोदय भ्रष्टाचारी

हैं, किन्तु अपने भाषण में ऊँची हाँकते हैं - ''शासन और सत्ता की जरा भी लालसा हमारे अन्दर नहीं। हाँ, इस बात की लालसा जरूर है कि जनता जनार्दन की सेवा के अंतिम क्षण तक हम अपने तन-मन का उपयोग कर सकें।'' किन्तु नरपत बाबू जनता-जनार्दन की सेवा क्या करेंगे? वे तो बाढ़ पीड़ितों के सहायतार्थ मिली राशि को जनजातियों के विकास के नाम पर हजम कर जाते है ... स्वयं को महात्मा गाँधी का शिष्य कहते हैं, किन्तु गाँजे की तस्करी में पकड़े गये अपने बेटे को मुक्त कराने के लिए व्यापक सत्ता प्रभाव का सहारा लेते हैं। 'हीरक जयन्ती' में आधुनिक सामाजिक बदमाशियों और राजनीतिक ढोंगों को नंगा किया गया है। जब देश में जमींदारी ताल्लुकदारी प्रथा के उन्मूलन का कानून पास हुआ, उस समय कुछ लोंगों ने साजिश के तहत अधिक-से-अधिक जमीन हड़प ली। जमनिया और लखनौली के दो-तीन भूस्वामियों ने ज्यादा-से-ज्यादा जमीन हड़पने के लिए रातोंरात जमनिया मठ की स्थापना कर डाली। 'जमनिया का बाबा' उपन्यास में इसका पूरा वर्णन है।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में साफ झलकता है कि चाहे विदेश की राजनीति हो या देश की, बाबा की प्रायः सभी रचनाओं में उसकी अनुगूंज है। तात्कालीन राजनीतिक घटनाओं को उन्होंने अपने लेखन का विषय बनाया है। जब-जब देश के जीने-मरने का प्रश्न आया है, बाबा ने राजनीति में सक्रिय भाग भी लिया है। देश की आजादी के पहले भी, आजादी के बाद भी। बाबा को सामयिक बोध रहा है, इसलिए देश की तात्कालिक राजनीतिक घटनाओं पर बड़ी साफगोई के साथ अपनी रचनाओं में उन्होंने अपना मंतव्य स्पष्ट कर दिया है।

बाबा की तमाम राजनीतिक रचनाएँ प्रायः व्यंग्य के रूप में सामने आई है जिसे कुछ लोगों ने साहित्यिक मूल्यांकन की मुख्य अड़चन माना है- "ऐसी कौन-सी चीज है जो नागार्जुन के साहित्यिक मूल्यांकन की मुख्य अड़चन है। वह राजनीतिक व्यंग्य है।" यह ठीक है कि राजनीति से पूरे देश-दुनिया के भाग्य का फैसला होता है उसे हास्य व्यंग्य का विषय बनाया है, किन्तु विशेषकर आजादी के बाद देश की जो परिस्थिति रही उस पर व्यंग्य के सिवाय किया भी क्या जा सकता है। यही कारण है कि अजय तिवारी कहते हैं- ''ऐसी कौन-सी चीज है जो आधुनिक हिन्दी कविता में नागार्जुन की विशिष्ट पहचान है? वह है- राजनीतिक व्यंग्य। कुछ लोगों ने बाबा की राजनीतिक रचनाओं पर विशेष कर काव्य रचनाओं पर यह आरोप लगाया कि राजनीति को विषय बनाकर लिखी उनकी रचनाओं में कलात्मक सौन्दर्य का अभाव है। ठीक है, किन्तु यह मान लेना कि बाबा की कलम में कलात्मक सौन्दर्य से पूर्ण कविता लिखने की क्षमता नहीं थी, यह बड़ी भूल होगी। यह नहीं भूलना चाहिए कि बाबा ने "बादल को घिरते देखा है" जैसे कलात्मक सौन्दर्य से पूर्ण अनेक कविताएँ लिखी हैं, और संस्कृत के महापंडित के पास यह विद्या नहीं रही हो ऐसा मानना मूर्खता होगी। "बादल को घिरते देखा है" वाली कलम सदैव बाबा के पास रही, किन्तु बाद में देश की राजनीतिक घटनाओ को विषय बनाकर जिस प्रकार की रचनाएँ की हैं, बाबा को वैसा ही लिखना अधिक रुचता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आजादी से पहते या बाद की राजनीतिक घटनाओं को अपने साहित्य का विषय बनाकर तमाम विसंगतियों के जिम्मेदार राजनीतिज्ञों पर प्रहार करने का जो सिलसिला बाबा ने शुरू किया था, वह उनके जीवन के अंतिम समय तक अबाधगति से चलता रहा।

संदर्भ:

तिवारी, अजय. *नागार्जुन की कविता*. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.

त्यागी, सुरेश चंद्र. (संपा.). (1984). *मेरे बाबूजी ... नागार्जुन*. सहारनपुर : आधिर प्रकाशन.

नागार्जुन. उम्मीदवार शीर्षक कविता. *पुरानी जूतियों का कोरस*. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. 63

मिश्र, शोभाकांत. (संपा.). (1999). *नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ-2*. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. 192

सिंह, विजय बहादुर. (1982). *नागार्जुन का रचना संसार*. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. 124

स्त्री विमर्ष में श्रम और भूमंडलीकरण

उमा देवी*

umma.tripathi08@gmail.com

नारी विमर्श के अन्तर्गत आज दुनिया भर में स्त्री श्रम और नारी देह को लेकर चर्चा चल रही है। स्त्रियों के श्रम को पुरुषों से कमतर करके आंका जाता है, वहीं उनके लिए काम की श्रेणी भी विभाजित की गई है। स्त्री शरीर कमजोर है, भारी मेहनत उससे नहीं हो सकती यह आम पुरुष दृष्टि है जिसके अनुसार हमारे समाज में कुछ ही क्षेत्रों में स्त्रियों को प्रवेश की छूट प्रदान की गई।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की एक रिपोर्ट में कहा गया है कि ''दुनिया की 98 प्रतिशत पूँजी पर पुरुषों का कब्जा है। पुरुषों के बराबर अधिकार पाने में औरतों को अभी हजार वर्ष और लगेंगे।''[1] दुनिया की आधी जमात होकर भी सिर्फ दो प्रतिशत पूँजी की हकदार स्त्री की पूँजीवादी व्यवस्था में यह रिपोर्ट जगह दिखाती है। पितृसत्तात्मक समाज में सम्पत्ति का हस्तांतरण पुरुषों को ही पीढ़ी दर पीढ़ी पुत्राधिकार में मिलता है आगे भी ऐसा ही होता रहेगा। श्रम में घरेलू काम और वृफषि को श्रम की श्रेणी में लाया ही नहीं जाता। आधी दुनिया की जमात के श्रम को बिना मूल्य का हिसाब-किताब दिये पुरुष या परिवार का मुखिया हड़प लेता है। सारी दुनिया की धरती और स्त्री देह यानी उत्पादन, पुनरूत्पादन और उत्पत्ति के सभी साधनों पर पुरुष का सर्वाधिकार सुरक्षित है। उत्तराधिकार और स्त्री देह पर अधिकार जमाये रखने के लिए ही जैसे उत्तराधिकार कानून, विवाह संस्था का शगूफा गढ़ा गया है।

श्रम विभाजन में प्राकृतिक कुछ भी नहीं है जो काम स्त्रियों के लिए बनाये गये हैं वही काम पुरुष भी कर सकते हैं जैसे घरेलू काम या बाहर नर्स, अध्यापक जो कि औरतों के ही क्षेत्र माने जाते हैं। स्त्रियों को ज्यादातर मुख्य कामों के बजाय छोटे-छोटे कामों में लगाया जाता है। पुरुषों की मानसिकता है कि स्त्री हीन है, चूँकि वह हीन है इसलिए मुख्य कार्यों के लिए नहीं बनी है। खेती में वह खेत नहीं जोत सकती, फसल काट सकती है। इसी प्रकार कारखाने में क्लर्क बन सकती है किन्तु मशीन नहीं चला सकती।

स्त्री की श्रम शक्ति को परिभाषित व व्याख्यायित करते हुए सविता सिंह कहती हैं कि ''ऐसी श्रम शक्ति जो उसे बहुत सस्ती मिले या जिसे काम देने पर उसे कुछ न देना पड़े यह उन स्त्रियों की श्रम शक्ति होती है जो घरेलू स्त्रियाँ कहलाती हैं। जिन्हें बाकायदा नौकरी पर नहीं रखा जाता, लेकिन उनसे उनके घरों में ही बहुत ही कम मजदूरी देकर या पुरुष अधिकार के जरिये मुफत में ही काम कराया जाता है।''[2]

* 196/7 CBN Than Singh Nagar, St No 9 Anand Parvat, New Delhi - 110005

8 मार्च 2010 बी.बी.सी. हिन्दी समाचार पत्र में एक खबर छपी थी इसमें वर्ल्ड इकॉनमिक फोरम की सर्वेक्षण 'कम है महिलाओं की हिस्सेदारी' नाम से एक रिपोर्ट थी जिसमें बताया गया कि आज तक दुनिया की अग्रणी कम्पनियों में स्त्रियों को वह जगह नहीं मिल पाई है जो उन्हें मिलनी चाहिए थी ''कॉरपोरेट सेक्टर में लिंग भेद की वजह से महिलाएँ अभी तक सीनियर मैनेजमेंट या कंपनी के बोर्ड में जगह बनाने में विफल रही हैं''[3] दुनिया की आधी जमात को उद्योग जगत में शीर्ष पदों पर अपनी जगह बनाने ही नहीं दी गई। सी.ई.ओ. की संख्या फिनलैंड में 13 प्रतिशत है जो पहले स्थान पर है। यह रिपोर्ट 21वीं सदी में महिलाओं की स्थिति बयान करती है। रिपोर्ट की उप लेखिका सादिया जहीदी इसे अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त करती हैं; ''अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस के मौके पर कॉरपोरेट में लिंग भेद का पता चलना खतरे की घंटी है। कॉरपोरेट सेक्टर लिंग समानता के लिए कुछ नहीं कर रही है।'[4]

नारीवादी विमर्श में यह विमर्श चल रही है कि स्त्री की देह पर स्त्री का अधिकार होना चाहिए। समाज में शुरू से ही उस पर अत्याचार होते आये हैं। नारीवादी विमर्श स्त्री देह पर उसका अधिकार मानता है। वह कहता है कि देह उसकी है तो उसे अपनी देह के मामले में निर्णय लेने का अधि् कार अवश्य मिलना चाहिए। इसी प्रकार स्त्री कोख पर भी चर्चा शुरू हुई है। सदियों से ही स्त्री की कोख का निर्णय पुरुषसत्ता की सोच रखने वाली स्त्रियाँ करती आई हैं। स्त्री को कब बच्चा पैदा करना है, कब नहीं इसका निर्णय वह स्वयं नहीं कर सकती। इसलिए नारीवादियों ने स्त्री कोख की मांग भी शुरू कर दी है। अब भूमंडलीकरण की बात करते हैं भूमंडलीकरण एक प्रक्रिया है जिसमें सारा विश्व एक ग्राम में तब्दील हो गया है। भूमंडलीकरण के दौर में विकास के दो चरण आये:-

1. हल्के उपभोक्ता माल के निर्माण और श्रम प्रधान इलेक्ट्रॉनिक उद्योगों का दौर।

2. बैंकिंग और दूरसंचार में अतिआधुनिक और कम्प्यूटरीकृत प्रौद्योगिकी का दौर।

भूमंडलीकरण पूँजीवादी विकास प्रक्रिया का परिणाम है जिसमें मुद्रा एक देश से दूसरे देश में निर्बाध गति से बहने लगी। स्वर्णयुग का सपना दिखाने वाले इस भूमंडलीकरण में भी स्त्रियों की स्थिति वैसी की वैसी रही। उल्टा भूमंडलीकरण ने स्त्री को नये पितृसत्तात्मक ढांचे में बांधा व नये रूप गढ़कर उसका दोहन किया। भूमंडलीकरण के समर्थकों ने 'सिंथिला एनलो' के स्त्रियों की स्थिति के प्रश्न के उत्तर में यह सुनहरा जवाब दिया कि स्त्रियाँ पावर वुमेन बन गई हैं केवल बाजार पूँजी और संचार क्रांति के बल पर औरतों की दुनिया बदल गई है। वे ज्यादा आत्मनिर्भर हो गई हैं। कुछ समय पश्चात भूमंडलीकरण के कुछ समर्थकों ने स्त्रियों का यह रूप पेश किया ''शायद औरतों के लिए इतना अच्छा और मर्दों के लिए इतना बुरा वक्त कभी नहीं आया होगा....। घर के भीतर अघोषित नियम चल रहे हैं कि तुम्हारा पैसा तो मेरा है ही मेरा पैसा सिर्फ मेरा है.....। पुरुष अपनी भूमिका तो निभा ही रहा है उसे स्त्रियों की भूमिका भी निभानी पड़ रही है.....। वे तमाम अधिकार और

सुविधाएँ उससे छिन चुके हैं जिन्हें वह स्वाभाविक रूप से भोगता था। उसकी औरत न केवल सम्पूर्ण आजादी के साथ आगे निकलती जा रही है बल्कि उसने अपने सभी दायित्वों को भी त्याग दिया है''[5]

इस कथन से ऐसा लग रहा है मानों स्त्री अब वही सब करने लगी है जैसा पहले पुरुष करता था। जबकि सच्चाई कुछ और है। पहले भी स्त्रियाँ बिना किसी मुआवजे और छुट्टी के आजीवन और अथक परिश्रम करने के लिए अभिशप्त थीं और आज भी हैं। पुरुष ने स्त्री को अपना वंश चलाने वाली एक कोख मात्र समझा। तरह-तरह के सामाजिक कायदे-कानून बनाकर उसकी यौनिकता को दबाया और सीमित कर दिया। जिससे वह केवल एक ही पुरुष से जुड़ी रहकर एकलिंगी सहवास को ही नैतिक माने। उन्हें शिक्षा से वंचित किया गया तथा उसे अपने बजाय दूसरों का ख्याल रखना सिखाया गया।

पूँजीवादी व्यवस्था में अधिक लाभ के लिए सस्ते श्रम की खोज की गई और अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूँजी ने औरतों को अपना निशाना बनाया। घर के दायरे से बाहर निकलने की इच्छा रखने वाली औरत को वह सस्ते और लचीले श्रम के रूप में देखने लगा। उसने निर्यात के लिए माल बनाने हेतु श्रम प्रधान प्रौद्योगिकी में गरीब महिला श्रमिकों को बड़े पैमाने पर लगाया। सौंदर्य प्रतियोगिता में तीसरी दुनिया की औरतों को सुन्दर घोषित करके प्रसाधन उद्योग के लिए मध्यवर्गीय लड़कियों और गृहणियों के रूप में नये उपभोक्ता ढूँढ़े।

भूमंडलीकरण ने औरतों का मात्र इस्तेमाल किया। औरतों को अधीन और परिवार के साथ बंधी हुई स्थिति में कायम रखने में ही उसका फायदा था। भूमंडलीकरण के कारण पूँजी कमाने के लिए अनेक तीसरी दुनिया के देशों ने पर्यटन और मनोरंजन उद्योग के नाम पर स्त्रियों का निर्यात किया। अमीर देशों में घरेलू काम के लिए और यूरोप में चकलाघरों के लिए करोड़ों स्त्रियों को अपराधी गिरोह के जरिये सीमा पार भेजकर बड़े पैमाने पर विदेशी मुद्रा कमाई गई जिसके जरिये तीसरी दुनिया के देशों ने विश्व बैंक का कर्जा चुकाया और भूमंडलीकरण की होड़ जारी रखी। ''भूमंडलीकरण ने औरत की देह उसके शरीर और छवि का अतीत के किसी भी काल के मुकाबले सर्वाधिक दोहन किया। भूमंडलीकरण ने पितृसत्ता के कुछ नये रूप रचे। उसने परंपरा और धर्म के अलावा आर्थिक आधुनिकीकरण और वैकासिक आग्रहों को भी नयी पितृसत्ता का जनक बना दिया। जबकि कभी इन दोनों को औरतों की आजादी का संभावित जरिया माना जाता था। इस तरह भूमंडलीकरण के तहत पितृसत्ता और मजबूत हुई।''[6]

यौन उद्योग भूमंडलीकरण में भारी कमाई का स्रोत बना। इसने औरतों को मात्रा बिकाउ चीज समझा। पिछले कई वर्षों में दुनिया के पैमाने पर औरतों के निर्यात के जरिये अरबों-खरबों डॉलर की रकम कमाई गई। देश कर्ज का बोझ उतारने के लिए अपने देश की औरतों की सप्लाई करने लगे। भूमंडलीकरण के इस नतीजे ने एशियाई देशें की औरतों की रहस्यमय और यौनक्रिया के लिए उपलब्ध वाली औपनिवेशिक छवि ही पुष्ट की। जापान के यौन उद्योग पर नजर डाली जाये तो यह उद्योग लगभग चार से पाँच खरब येन प्रतिवर्ष कमा रहा है।

इसी प्रकार के आंकड़े अन्य देशों के भी हैं। वास्तव में भूमंडलीकरण में औरत केवल अपने या अपने परिवार के लिए गुलामी नहीं कर रही बल्कि पूरे अर्थतंत्रा के लिए गुलामी कर रही है।

संदर्भ :-

1 कात्यायनी. (1997). *दुर्ग द्वार पर दस्तक*. लखनऊ : परिकल्पना प्रकाशन. पृ. 49

2 जैन, प्रतिभा. & शर्मा, संगीता. (संपा.). (1998). *भारतीय स्त्री सांस्कृतिक संदर्भ*.नई दिल्ली : रावत पब्लिकेशन. पृ. 43

3 भसीन एण्ड खान, सम क्वैशन्स ऑन फेमिनिज्म एण्ड इट्स रेलेवन्स इन साउथ एशिया।

4 प्रतियोगिता दर्पण. (2006, सितम्बर). पृ. 277

5 प्रतियोगिता दर्पण. (2006, सितम्बर). पृ. 277

6 डिक्शनरी डॉट कॉम

नई तालीम के ऐतिहासिक संदर्भ

डॉ. अभिनव सिंह*

abhinav2020singh31@gmail.com

प्रस्तावना:-

महात्मा गाँधी के अनुसार नई तालीम की मंशा यह है कि गाँव के बच्चों को सुधार-सँवार कर उन्हें गाँव का आदर्श बाशिंदा बनाया जाए। हमारे यहाँ जिसे प्राथमिक शिक्षा कहा जाता है वह तो एक मजाक है; उसमें गाँवों में बसने वाले हिंदुस्तान की जरूरतों और माँगों का जरा भी विचार नहीं किया गया है और वैसे देखा जाए तो उसमें शहरों का भी कोई विचार नहीं हुआ है।[1] यह तालीम बच्चों को हिंदुस्तान के सभी श्रेष्ठ और स्थायी तत्त्वों के साथ जोड़ देता है। इससे बच्चों का न केवल बौद्धिक अपितु मानसिक व शारीरिक शक्ति का विकास होता है। बालक को अपने मिट्टी के साथ जोड़ती है; उसे अपने और देश के संस्कृति का गौरवपूर्ण चित्र दिखाई देता है।

अधिकारिक रूप से महात्मा गाँधी के रहते नई तालीम का प्रथम पाठशाला सेवाग्राम (वर्धा, महाराष्ट्र) में स्थापित हुआ। बाद में इसका नाम आनंद निकेतन हुआ। गाँधीजी ने जिस हिंदुस्तान को देखा और समझा तदोपरांत उन्हें लगा कि वर्तमान में जो शिक्षा दिया जा रहा है वह बच्चों को गाँव से काट रहा है। इसमें ग्राम विकास के लिए शिक्षा का अभाव है। अतः उन्होंने एक नई तालीम की वकालत की। इस तालिम में 6 से 14 साल तक के बच्चों को ऐसी शिक्षा दी जाने की बात है कि वह अंग्रेजी भाषा ज्ञान में उलझे बिना एक हस्तशिल्प सीख ले ताकि आगे की पढ़ाई का सामर्थ न होने पर अपनी जीविकोपार्जन कर सके। इस शिक्षा में गाँधी की महत्त्वपूर्ण सिद्धांत सत्य और अहिंसा के साथ-साथ नैतिकता, शिष्टाचार का भी समावेश है।[2] यह शोध पत्र गाँधी के शिक्षा दर्शन के उसी ऐतिहासिक संदर्भ को उजागर करेगा, जिसे गाँधीजी ने दक्षिण अफ्रिका के प्रवास काल से करते-कराते आ रहे थे।

मुख्य शब्द:

नई तालीम : महात्मा गाँधी का शिक्षा दर्शन है, जो वर्ष 1937 में वर्धा में शुरू किया गया। जिसे बुनियादी शिक्षा, वर्धा शिक्षा योजना के नाम से भी जाना जाता है।

ऐतिहासिक संदर्भ: यहाँ ऐतिहासिकता का आशय गाँधी के जीवन काल से है, जिसमें गाँधीजी का शिक्षा-दर्शन पल्लवित-पुष्पित हुआ।

* **सहायक आचार्य, बी. एड. विभाग, अकबरपुर महाविद्यालय, अकबरपुर कानपुर देहात**

शोध प्रश्न :-

I. नई तालीम की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि क्या थी?
II. गाँधीजी की शिक्षा-दर्शन का निर्माण प्रक्रिया क्या रहा?

शोध के उद्देश्य :-

1. नई तालीम के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना।
2. महात्मा गाँधी के शिक्षा-दर्शन का अध्ययन करना।

शोध-प्रविधि:-

इस शोध अध्ययन की प्रकृति विश्लेषणात्मक है। इसमें **गुणात्मक** आकड़ों का विश्लेषण किया गया है। शोध में मुख्यतः द्वितीयक स्रोत का प्रयोग किया गया; यानी नई तालीम से संबंधित प्रतिवेदनों तथा पत्र-पत्रिका व पुस्तकों से अध्ययन सामग्री का संकलन कर विश्लेषण किया गया है।

1897 में महात्मा गाँधी को एक शिक्षक बनने की जरूरत तब पढ़ी जब वे अपने तीन बच्चों के साथ दक्षीण अफ्रिका गए। वे अपने बच्चों को गोरे बच्चों के चलाए जाने वाले स्कूल में इसलिए नहीं भेजा कि वहाँ हमारे बच्चे तो पढ़ सकते हैं, किंतु दूसरे हिंदुस्तानी बच्चे वहाँ नहीं पढ़ सकते। दूसरे जो ईसाई मिशन के स्कूल थे वहाँ हिंदुस्तानी बच्चे तो पढ़ते थे किंतु गाँधी को वहाँ भेजना पसंद नहीं था। अतः गाँधी स्वयं अपने बच्चे को पढ़ाने के लिए तैयार हो गए।[3] बाद में फिनिक्स आश्रम (1904) और टॉल्सटॉय आश्रम (1910) में भी बच्चों को पढ़ाने का काम गाँधी ने किया। उस दौरान गाँधी विविध चुनौतियों से दो-चार हुए। वहाँ उन्हें अपने सोच से शिक्षा में अनेकानेक प्रयोग करने का अवसर मिला। यह प्रयोग छोटे स्तर पर जरूर था किंतु गाँधी को नई तालीम का आधारशिला का निर्माण हुआ। यह गौरतलब है कि "तीन चीजों के बारे में गाँधीजी की राय शुरू से ही एकदम साफ थी : एक, बच्चों को धर पर रहना चाहिए, उनको मां-बाप से अलग करके आवासीय विद्यालय में नहीं भेजा जाना चाहिए, दूसरा, उनको अपनी मातृभाषा में शिक्षा मिलनी चाहिए, और तीन, उनको ऐसी कोई विशेष सुविधा नहीं मिलनी चाहिए जो भारत के अन्य बच्चों को नहीं मिलती हों।"[4] यह सब गाँधी केवल दूसरे के बच्चों के लिए नहीं कहे बल्कि अपने बच्चों से ही शुरुआत किए। यही कारण है कि गाँधी के 4 में से 3 बच्चे स्कूली शिक्षा महरूम रहे, हलाँकि उनके बौद्धिक क्षमता में कोई कमी नहीं हुई। चूँकि बड़ा बच्चा 'हरिलाल' बाद के दिनों में भारत आ गए इसलिए उन्हें स्कूली शिक्षा मिल पाई।

1915 में जब गाँधी भारत आए तो एक वर्ष तक देश भ्रमण किया। तब वे भारत के आर्थिक व सामाजिक स्थिति के साथ-साथ शैक्षणिक स्थिति से रूबरू हुए। वे "बुद्धि विकास बनाम बुद्धि-विलास नामक

लेख" शीर्षक लेख में लिखते हैं - "त्रावणकोर और मद्रास के भ्रमण में विद्यार्थियों तथा विद्वानों के सहवास में मुझे ऐसा लगा कि मैं जो नमूनें उनमें देख रहा था, वे बुद्धि-विकास के नहीं अपितु बुद्धि-विलास के थे। आधुनिक शिक्षा भी हमें बुद्धि-विलास सिखाती है और बुद्धि को उल्टे रास्ते ले जाकर उसके विकास को रोकती है। सेगांव (सेवाग्राम) में पड़ा पड़ा मैं जो अनुभव ले रहा हूँ, वह मेरी इस बात की पूर्ति करता दिखाई देता है। मेरा अवलोकन तो वहाँ अभी चल रहा है। इसलिए इस लेख में आये हुए विचार उन अनुभवों पर आधार नहीं रखते।"[5]

इसके छह माह बाद 22 अक्टूबर, 1937 को सभापति पद से अपनी शिक्षा संबंधी विचार लोगों के पास रखते हैं – "मैंने खूब सोच-समझ कर यह राय कायम की है कि प्राथमिक शिक्षा की यह मौजूदा प्रणाली न केवल धन और समय का अपव्यय करनेवाली है, बल्कि नुकसानदेह भी है। अधिकांश लड़के अपने माँ-बाप के तथा अपने खानदानी पेशे-धंधे के काम के नहीं रहते। वे बुरी-बुरी आदतें सीख लेते हैं, शहरी तौर-तरीकों के रंग में रंग जाते हैं और थोड़ी-सी ऊपरी बातों की जानकारी ही उन्हें हासिल होती है, जिसे और चाहे जो नाम दिया जाय, पर शिक्षा तो हरगिज नहीं कहा जा सकता। इसका इलाज मेरे ख्याल में यह है कि उन्हें औद्योगिक या दस्तकारी की तालीम के जरिये शिक्षा दी जाय। मुझे इस प्रकार की शिक्षा का कुछ व्यक्तिगत अनुभव है। मैंने दक्षिण अफ्रीका में खुद अपने लड़कों को और दूसरे हर जाति और हर धर्म के बच्चों को टॉल्स्टाय फार्म में किसी-न-किसी दस्तकारी द्वारा इस प्रकार की तालीम दी थी। जैसे बढ़ईगीरी या जूते बनाने का काम सिखाया था, जिसे कि मैंने केलनबैक से सीखा था और केलनबैक ने एक ट्रेपिस्ट मठ में जाकर इस हुनर की शिक्षा प्राप्त की थी। मेरे लड़कों ने और उन सब बच्चों ने मुझे विश्वास है, कुछ गँवाया नहीं है। यद्यपि मैं उन्हें ऐसी शिक्षा नहीं दे सका, जिससे कि खुद मुझे या उन्हें संतोष हुआ हो। क्योंकि समय मेरे पास बहुत कम रहता था और काम इतने अधिक रहते थे कि जिनका कोई शुमार नहीं।

मैं असल जोर धंधे या उद्यम पर नहीं, बल्कि हाथ उद्योग द्वारा शिक्षण पर दे रहा हूँ। साहित्य, इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान इत्यादि सभी विषयों की शिक्षा उद्योग द्वारा ही दी जानी चाहिए। शायद इस पर यह आपत्ति उठाई जाय कि मध्ययुग में तो ऐसी कोई चीज नहीं सिखाई जाती थी। मगर पेशे-धन्धे की तालीम, तब ऐसी होती थी कि उससे कोई शैक्षणिक मतलब नहीं निकलता था। इस युग में यह दशा हुई है कि लोग उन पेशों को, जो उनके घरों में होते थे, भूल गये हैं, पढ़-लिख कर उन्होंने क्लर्की का काम हाथ में ले लिया है और इस तरह वे आज देहात के काम के नहीं रहे हैं।"[6] गाँधीजी ऐसी शिक्षा को भारत के कंगाली व गुलामी का कारण मानते थे। वे ग्रामीण अर्थव्यवस्था को सशक्त करना चाहते थे, स्वावलम्बी बनाना चाहते थे।

उन्होंने 22 अक्टूबर 1937 के राष्ट्रीय सम्मेलन में बड़े ही स्पष्ट शब्दों में अपनी शिक्षा संबंधी प्रस्ताव सभा के समक्ष रखी - "प्राथमिक, माध्यमिक और हाईस्कूल के नाम पर आज जो शिक्षा दी जा रही है, उसके स्थान पर एक ऐसी प्राथमिक शिक्षा होनी चाहिए जो सात साल या उससे लंबे समय तक चले मैट्रिकुलेशन तक जिसमें अंग्रेजी के अलावा सारे विषय पढ़ाए जाए, जिसमें एक ऐसा पेशेवर काम शामिल हो जिसका इस्तेमाल

बच्चों के मस्तिष्क को व्यावहारिक ज्ञान की तरफ मोड़ने में किया जा सके। ऐसी शिक्षा अपनी समग्रता में निश्चित तौर पर स्वावलंबी होनी चाहिए। स्वावलंबन ही उसकी वास्तविकता की असली कसौटी है।"[7]

गाँधी के 3H – Head, Hand, Heart की शिक्षा के लिए वकालत करते हुए कहते हैं कि बुद्धि का सच्चा विकास हाथ, पैर, कान आदि अवयवों के सदुपयोग से ही हो सकता है, अर्थात् शरीर का ज्ञानपूर्वक उपयोग करते हुए बुद्धि का विकास सबसे अच्छा और जल्दी से जल्दी होता है। इसमें भी यदि पारमार्थिक वृत्ति का मेल न हो तो, बुद्धि का विकास एकतरफा होता है। पारमार्थिक वृत्ति हृदय यानी आत्मा का क्षेत्र है। अतः यह कहा जा सकता है कि बुद्धि के शुद्ध विकास के लिए आत्मा और शरीर का विकास साथ-साथ तथा एक-सी गति से होना चाहिए। इससे अगर कोई यह कहे कि ये विकास एक के बाद एक हो सकते हैं, तो यह ऊपर की विचारसारिणी के अनुसार ठीक नहीं होगा।

हृदय, बुद्धि और शरीर के बीच मेल न होने से जो दुःसह परिणाम आया है वह प्रकट है, तो भी गलत आदत के कारण हम उसे देख नहीं सकते। गाँवों के लोगों का पालन-पोषण पशुओं में होने के कारण वे मात्र शरीर का उपयोग यंत्र की भांति किया करते हैं, बुद्धि का उपयोग वे करते ही नहीं और उन्हें करना भी नहीं पड़ता। हृदय की शिक्षा उनमें नहीं के बराबर है। इसलिए उनका जीवन यो ही गुजर रहा है, जो किसी भी काम का नहीं रहा है और दूसरी ओर आधुनिक कॉलेजों तक की शिक्षा पर जब नजर डालते हैं, तो वहाँ बुद्धि के विकास के नाम पर बुद्धि के विलास की ही तालीम दी जाती है। [8]

विडम्बना यह है कि आज भी शरीर श्रम के साथ यानी उद्‌द्योग के साथ शिक्षा देने की बात की जाए तो लोग विरोध करेंगे। आज भी हमारी शिक्षा-व्यवस्था बौधिक और शारीरिक विकास को अलग-अलग मानती है। नैतिकता की शिक्षा अलग से देने की बात की जाती है, जबकि गाँधी उद्योग से ही शिक्षा देने की बात करते हैं। वे बुद्धि-शरीर-आत्मा को सन्युक्त रूप से विकसित करने की वकालत करते हैं। आज के विद्यालय से निकले छात्र मिट्टी से कट जा जाते हैं, उन्हें शारीक काम न तो आता है, न करना चाहते हैं और ना ही कर सकते हैं। जरा सा मेहन की कि उनका माथा दुखने लगता है और धूप में घुमना पड़े तो चक्कर आने लगते हैं। दूसरे तरफ जो बुद्धि विलास से सीखे हैं उसके दम नोकरी भी नहीं मिलती है। 'धोबी का कुत्ता न घर के न घाट के' वाली कहावत चरितार्थ होती है।

वर्तमान में भारत के न केवल शिक्षाशास्त्री अपितु सामान्य छात्र भी अनुभव करता है कि मातृभाषा में दी गई शिक्षा सरल और सुगम होती है। उसमें सृजनात्मकता होती है जबकि विदेशी भाषा में दी गई शिक्षा बेवजह भार और सृजनात्मकता को नष्ट करने वाली होती है। गाँधी भी इसे स्वीकार करते थे और अपने बुनियादी तालिम में अंग्रेजी शिक्षा के स्थान पर औद्योगिक तालीम दिए जाने का प्रबंध किया। उनके औद्योगिक शिक्षा नीति की तब और आज भी आलोचना होती रहती है कि गाँधी विद्यालय को विद्यालय नहीं कारखाना बनाना चाहते हैं। लेकिन गाँधी इसका परवाह किए बिना औद्योगिक शिक्षा के सहारे स्वावलम्बी

शिक्षा तक की बात की। वे कहा करते थे कि "गरीब देश में शिक्षा और उद्योग को अलग-अलग रखना पुसा ही नहीं सकता।"[9] यह बात आज तक हमारे जेहन में नहीं उतरी है।

निष्कर्ष:-

गाँधी अपने समनो की शिक्षा की बात एकाएक नहीं की, बल्की 40 वर्षों तक छोटे स्तर पर ही सही किंतु शिक्षा के प्रयोग करने के बाद कही। उन्होंने भारत के परिस्थितियों को देखा कि किस तरह कंगाली, बेरोजगारी, विस्थापन, भुखमरी से जानता परेशान है। तब उन्होंने ऐसी शिक्षा की बात की जो उद्योग (शिल्प कला) के माध्यम से दिया जाए। यानी उद्योग की शिक्षा देते समय ही गणित, विज्ञान, समाज व साहित्य की शिक्षा दी जाए। अन्यथा पढ़े-लिखे लोगों की ऐसी फौज तैयार होगी जिनके हाथों में न तो कोई कला (शिल्प) होगा और ना ही अपने जमीन से जुड़े माता-पिता के कामों में हाथ बटाने का इच्छा शेष बचेगी। हलांकि आज हमसब ऐसी परिस्थिति से रुबरू हो रहे हैं। चीन (देश) ने गाँधी के नाम लिए बिना उद्योग आधारित शिक्षा की शुरुआत की। आज उसके गृह-उद्योग के छोटे-छोटे खिलौने, मुर्तियाँ, दैनिक उपयोग की वस्तुएँ न केवल हमारे देश के बाजार में बिक रहा है अपितु विदेश में भी बड़े स्तर पर बिक रहा है। यह सब वस्तुएँ हमारे देश के बच्चे भी बना सकते थे, लेकिन हमने गाँधी को अनुकरणीय नहीं बनाया, केवल पूज्यनीय बना कर छोड़ दिया।

संदर्भ :-

[1] गाँधी, मो. क. (1957/2010). *रचनात्मक कार्यक्रम : उसका रहस्य और स्थान*. अहमदाबाद: नवजीवन. पृ. 28-29

[2] महात्मा गाँधी. (2014). *बुनियादी शिक्षा*. वाराणसी : सर्व सेवा संघ प्रकाशन.

[3] गाँधी, मो. क. (1957/2007). *सत्य के प्रयोग*. (का. त्रिवेदी, अनु.) अहमदाबाद: नवजीवन प्रकाशन मंदिर. 178

[4] मार्जारी साइक्स. (2008*). नई तालीम की कहानी*. नई दिल्ली: केंद्रीय शिक्षा संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय. पृ. 6

[5] गाँधी, म. क. (1937 अप्रैल 17). बुद्धि विकास बनाम बुद्धि-विलास. *हरिजनसेवक*.

[6] महात्मा गाँधी. (2014). वर्धा-शिक्षा-परिषद्. *बुनियादी शिक्षा*. वाराणसी : सर्व सेवा संघ प्रकाशन. पृ. 73-74

[7] मार्जारी साइक्स. (2008*). नई तालीम की कहानी*. नई दिल्ली: केंद्रीय शिक्षा संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय. पृ. 17

[8] गाँधी, म. क. (1937 अप्रैल 17). बुद्धि विकास बनाम बुद्धि-विलास. *हरिजनसेवक*.

[9] गाँधी, म. क. (1937 अक्टूबर 16). उद्योग द्वारा शिक्षा के लिए दो आधार. *हरिजनसेवक*.

AN ANALYSIS OF LOCKE'S THEORY OF KNOWLEDGE

PERVASH KUMAR*

parveshkumarbhardwaj@rediffmail.com

Abstract:

Locke believes that we acquire all knowledge through sense-experience. Locke under the profound influence of the rationalist thinker Descartes, accepts that what we directly receive through sense-experience are only simple ideas' Nevertheless, he attempts to account for our knowledge of the material world by introducing the 'complex ideas' of substance, modes and relations, which are formed out of the 'simple ideas' through the rational operations of the mind. One of Locke's epistemological objectives is to validate scientific knowledge in its two essential prerequisites, namely material substance and causal connections. Locke said that sometimes we do not observe the relation or difference between two ideas and indirectly establish a relation between the two. But such a process requires the intervention of other ideas. It is for this reason that knowledge is called demonstrative. This is rational or logical knowledge and is also self-proved or indisputable but its probability is not as definite or as obvious as that of intuitive knowledge. For that reason it is not immediately accepted by reason. The paper reveals that Locke treats only intuitive and demonstrative knowledge as real and definite, because other forms of knowledge cannot even be strictly said to belong to the realm of knowledge.

Keywords: Sensations, reflections, tabula rasa, a posteriori.

* **M.Phil. (Research Scholar), Department of Philosophy, Kurukshetra University(Kurukshetra)**

The main objective of John Locke's theory of knowledge is that we can acquire knowledge through experience. Locke believes that human mind at birth is like a tabula rasa, a blank sheet. External things leave impressions upon mind in the form of sensations.

Man's knowledge according to Locke depends upon experience. Sensations and reflections provide the material of our knowledge. All knowledge is gained by these two processes.

Sensations take on the shape of ideas in the mind. Hence knowledge is the name given to the relations between various ideas. "The relation may be of agreement or disagreement, similarity or dissimilarity. This relation is established differently in the case of different ideas and for this reason Locke has accepted different forms or kinds of knowledge."[1]

Simple ideas originate in sensations. Real ideas are similar to external objects and it is this similarity which is the criterion of truth of the ideas. Simple ideas are real because they represent external objects in the mind. Complex ideas formed by the combinations of simple ideas may or may not be true or real. "Yet complex ideas cannot be said to be illusory because the possibility that they may correspond with external objects cannot be denied. Besides, they are formed by combining simple ideas which themselves do represent real external objects."[2]

John Locke's primary concern is with the problem of epistemology and he is mainly interested in the origin, nature and limits of knowledge. It is his concern to discover which form of knowledge is veridical. As evident from the title of his main work, ***An Essay Concerning Human Understanding,*** his philosophy lay in search concerning human understanding. As the first step to such understanding, he analyzed the origin of knowledge.

Philosophy consists in the real knowledge of things. As Russell has observed, "Before obtaining such knowledge it is essential to find out the extent to which we are capable of obtaining it and even before this we should try to

discover the origin of such knowledge so that we can be sure which kind of knowledge is certain and reliable."[3]

According to John Locke, in the beginning man's mind is a tabula rasa or a blank sheet, similar to dark chamber, an empty cabinet or white paper upon which there is not a single discernible sign or idea. He refutes the notion of the rationalists that God has impressed upon our minds certain innate ideas. "It is natural to ask the question where these ideas come from. In other words if the mind itself is not the source of knowledge, then from where does this knowledge arise. Locke answers that experience is the source of such knowledge. It is for this reason that Locke has been called the father of empiricism."[4]

Knowledge that is communicated to the mind through experience is of two kinds, i.e., sensation and reflection. Both are the sources of knowledge. Through sensation we arrive at knowledge of the sensory qualities of objects. Reflections comprehend the mind's own activities such as perception, emotion, belief, thought, reasoning, and volition. These two are the sources of different ideas.

Hence, mind's knowledge is received either through the sense organ or through the minds action upon sensory experiences. Here it should once again be pointed out that Locke uses the term ideas to indicate that knowledge, which is directly known by the mind. In other words, ideas are the indirect or intuitive subject of direct thought reflection. "Two main kinds of ideas are to be found in the mind that is simple ideas and complex ideas." [5]

1. **Simple Ideas: -** These are the ideas that are received by the mind in the form of sensory or sensitive knowledge. They are of four kinds:-

I) Ideas originating in a single sense organ:-
Certain simple ideas have their origin in a single sense. They are ideas of colour, form, temperature, taste, touch, smell, sound etc.

II) Ideas originating in more than one sense organ:-
Such are the ideas of space and time, inertia or motion; they have their origin in the sense of sight and touch.

III) Ideas originating in reflection:-

In reflection, the mind examines its own actions upon the various ideas presented to it. In such an examination it discover the presence of such memory function as remembering, perception and other processes such as comparison, classification, abstraction, conjunction or separation.

IV) Ideas originating in sensation and reflection:-

Some simple ideas are created by the common functioning of sensation and reflection. Some examples of such ideas are pleasure, pain, force, existence, unity, order, or time.[6]

2. Complex Ideas:-

When simple ideas are put together or arranged according to certain combinations, the result is complex ideas. Locke divides the innumerable complex ideas into the following three classes.

I) Ideas of Modes:-

These are the complex ideas that are not capable of existing of their own accord, but must be supported by substances, some examples, being the ideas of triangle, obligation or murder. Ideas of modes are of two kinds.

a) Simple Modes:-

In these kinds of ideas, varieties of only one simple idea are involved that is, without including second idea, one solitary idea is repeated in different combinations and in this manner to produce simple mode.

a) Complex Modes:-

Ideas of complex modes are formed by the combinations of numerous simple ideas. "Examples of this type are the ideas of beauty, which is a simple idea in itself. Other examples of such complex ideas are those of running, fighting, murder etc. Social customs and traditions influence the formation of ideas of complex modes."[7]

II. Ideas of Substances:

It has already been pointed out that the ideas of modes or qualities are not self-dependent, but are connected with the idea of some substance. Ideas of substances are themselves complex ideas and are made up of a mixture of numerous simple ideas. Any complex idea of substance necessarily includes the concepts of its ideas. These ideas pertain specific objects which are the basis of various qualities. Hence the idea of substance is representative of a foundation upon which the ideas of colour, weight, density and other qualities are built. It is observed that many of the ideas that we receive from sensation and reflection invariably occur in pairs or groups. From this we conclude that all these ideas pertain to the qualities of the same subject, and we presume that the qualities have existence in some specific substance, which is then given a name. In fact, without imagining the existence of substances, it is difficult to conceive how certain ideas remain together. These qualities must occur in some place, they must have a common ground. Substance is the name given to this basis or common ground. It is believed that the basis of material qualities is material and the substance of spiritual qualities must be spiritual and from this is derived the notion of God who is accepted as the ultimate basis of all substance. To the physiological substances Locke designates the term unthinking or unreflective, not material, while the conscious elements are called reflective because no definite knowledge can be obtained concerning of substances themselves. Locke accepts the possibility that the creator may have given an element of reflection even to the material substance and that we may simply be unaware of it. Hence, it would be better to call it unreflective rather than material. The ideas of infinity, pleasure, supremacy, knowledge, power and existence are conjoined to the idea of God. For example, the term apple is the name given to a substance which has specific qualities of colour, form, taste, smell, etc. "Besides, certain ideas of substance do not depend upon qualities of a substance but appear to be that the basis of a number of objects, example being the idea of a crowd or that of an army. Similarly, the world is composed of numerous substances put

together. Substances, therefore, are those ideas for which grammarians use collective nouns."[8]

III. Ideas of Relation:

In addition to the idea of substances and their modifications, our minds possess other ideas that depict the different relations that exist between different objects. These are the ideas of relations. They serve to compare different objects. It is possible to establish some or the other relation between every object of the world. Examples of the ideas of relations are similarity or dissimilarity, causality, etc. The relation of cause and effect is derived from sensation as well as from reflection. With the help of our senses, we perceive that objects change, and that in the process certain qualities and substances come into existence because of certain other qualities and substances. Even in the realm of thought when one simple idea gives rise to another the former is called the cause and the latter the effect. When upon perceiving clouds we immediately think of rain, then the idea of cloud is the cause and that of rain the effect. As Locke has stated that, "Establishing the relation of cause and effect does not require that we should be aware how a particular cause creates the effect. Even in the absence of such knowledge the relation of causality can be established once it has established that a particular object has come into existence by the effort of another. Although science entails the use of numerous relations of space, time, extension, contiguity etc., yet the most important relation is that of cause and effect."[9]

Locke determines, it is clear, the truth or falsity of an idea by the degree of correspondence that it exhibits. Hence, the limits of our knowledge are limited to the sphere of our thoughts, because the meaning of knowledge lies in the correspondence of ideas. There can be no knowledge if there are no ideas. We cannot transcend our experience. Locke therefore is an empiricist. The field of our knowledge is confined to the extent of our perception. Gold, for example, has certain distinct attributes such as the yellow colour, a particular specific gravity, brittleness, but we do not understand sufficiently the relation that each attribute appears to the other, so that even when one attribute is perceived we cannot

reduce the nature of other attributes. Gold is not merely a yellow metal for the mere fact a metal being yellow does not make it gold, in the absences of the other attributes. As Locke has observed that, "Our mind is not capable of deducting the attributes of gold form the idea of gold existing in the mind, as it can deduce the qualities of triangle from the ideas of triangle that it possesses. In fact, only the self evident when known, can satisfy the human mind but knowledge of this kind is limited only to the field of logic and mathematics. Knowledge of this nature not found in the sphere of science."[10]

Kinds of Knowledge

The clarity of man's knowledge depends upon the correlation between the ideas in his mind. In the process of correlation of ideas, at times the relation becomes obvious almost immediately but at other times it takes a longer period. On the basis of this Locke has divided knowledge into three kinds:

1. Intuitive Knowledge :

In this type of knowledge the mind perceives the relations between ideas without taking the assistance of other ideas. For example, we perceive almost immediately that there is difference between the ideas of black and white, circle and triangle, three and two. Knowledge of the difference between them is immediate, complete and definite, for there is no need to prove it, and in fact, it cannot be proved. "Such difference is inevitable and self-proved. Locke is of the opinion that the reality and proof of our knowledge depends upon intuitive knowledge."[11]

2. Demonstrative Knowledge :

Sometimes we do not observe the relation of difference between two ideas and indirectly establish a relation between the two. But such a process requires the intervention of other ideas. It is for this reason that knowledge of the kind is called demonstrative. This is rational or logical knowledge and is also self-proved or indisputable but its probability is not as definite or as obvious as that of intuitive knowledge. For that reason it is not immediately accepted by reason.

Logic provides demonstrative knowledge in which a conclusion is reached only through reasoning stretching over a number of steps. Knowledge of this kind can be received through induction or deduction, but in either process the various steps have to be as definite as is the case with intuitive knowledge. If this is not so then the conclusion arrived at may not be dependable. As Dutta Roy has stated, "It is for this reason that each step in logic and mathematics is carefully examined before conclusion is reached. In actual fact, Locke treats only intuitive and demonstrative knowledge as real and definite, because other forms of knowledge cannot even be strictly said to belong to the realm of knowledge."[12]

3. Sensitive Knowledge :

Knowledge of the world is derived from the senses. External objects cannot be known either through intuition or through demonstration. Knowledge gained through the sense is called sensitive knowledge by Locke. Knowledge of this kind differs from the knowledge gained through dreams. It differs from illusion and hallucination also because it has greater veracity. "Sensitive knowledge is more than mere possibility, yet it cannot be said to be as certain and definite as either intuitive or demonstrative knowledge. Much of our own knowledge is in the form of intuitive knowledge, while God's knowledge is of a demonstrative kind, but both have veracity and are definite."[13]

The man Criticism of Locke's theory of knowledge is as under:-

1) According to Locke's theory of knowledge, our mind accepts sensation from external objects individually, that is, each sensation impresses itself upon the mind separately. They are later on converted into complex ideas by the actions of the mind. On the one hand Locke holds that experience is the source of knowledge, but on the other hand he indicates that universal and definite knowledge cannot be derived from experience naturally, how the empirical standpoint can provide philosophical knowledge. "In actual fact, as the modern

psychological also believe, mere sensation in itself has no meaning in the absence of any mental activity and hence empiricism cannot provide a theory of knowledge without having recourse to rationalism."[14]

2) According to Wright, Locke had started out with the intention of providing a theory of knowledge, but he only succeeded in providing us with a theory of ignorance. Wright makes this comment concerning Locke's theory of representations according to which our knowledge is limited merely to the archetypes, for we never know the object itself. Our ideas are only representatives of external objects not identified with them.

Conclusion:

On the basis of whole explanation it can be concluded that Locke theory of knowledge depend upon experience. Sensation and reflection are the main source of knowledge. The limits of our knowledge are limited to the sphere of our thoughts, because the meaning of knowledge lies in the correspondence of ideas. Locke's Philosophy is the true knowledge of things. He recognizes three modes of knowledge that is institutive knowledge, demonstrative knowledge and sensitive knowledge. Locke adopted a critical attitude towards knowledge and the problem that arise with them thus relate to the origin, the validity and the limits of knowledge Locke conducting his epistemological enquiry propounded a theory of knowledge known as a 'Posteriori' or empirical theory, against a 'priori' theory of the rationalists and help that all knowledge is derived from experience. He believed that –Mind is at first a tabula-rasa-a blank sheet of paper without any writing on it. The mind at first is perfectly empty and whatever knowledge it acquires that is due to the action of externals things which leave impression upon it in the form of sensation.

According to Locke sense-experience is the only source of knowledge, which he divides into two kinds that is sensation and reflection. In short to we can say that Locke believes that all knowledge is comes from experience.

REFERENCES:-

1. Masih. Y, ***A Critical History of Western Philosophy***, Motilal Banarsi Dass Publishers, New Delhi, 1994, edition-1, p. 278
2. Dutta Roy, Sudipa, ***Empiricism to Scepticism,*** Rajat Publication, New Delhi, 2002, p. 26
3. Russel, ***History of Western Philosophy***, Georgre Allen and unwin limited, London, 1946, edition-1, p. 556.
4. ***Ibid,*** p. 567**.**
5. ***Ibid***, p.568.
6. Dash, Sudarsan, ***Modernism versus Postmodernism***, Rajat Publication, New Delhi, 2000 p. 25.
7. ***Ibid***, p. 262.
8. ***Ibid***, p. 29.
9. Locke, John, ***An Essay concerning Human Understanding***, edited by John W. Yotton, Dent Publication, London, 1961, p. 34.
10. ***Ibid***, p. 35.
11. Dutta Roy, Sudipta, ***Empiricism to skepticism,*** Rajat Publication, New Delhi, 2002, p. 59.
12. ***Ibid***, p.62.
13. Masih, Y., ***A Critical History of Western Philosophy,*** Motilal Banarsi Dass Publisher New Delhi, 1994, edition-i, p. 279.
14. Thilly, Frank, ***A History of Philosophy,*** SBW Publishers, New Delhi, 2009, edition-III, p. 314.

जनसंचार, साहित्य और सोशल मीडिया

डॉ. राजेश चन्द आदर्श*

rcadarsh@gmail.com

संचरण सजीव होने का सबसे बड़ा प्रमाण है। चाहे वह अपने अंदर का हो या वाह्य जगत का हो। अपने अंदर रक्त का हो या बाहरी भ्रमण का हो। जहाँ संचरण नहीं होता है उसे मृत माना जाता है। यह बहुत बृहद प्रश्न हो सकता है क्योंकि बहुत सी निर्जीव समझी जाने वाली वस्तुओं में भी संचरण होता है। धरती के अंदर होता है, नदियाँ अपना स्थान बदलती हैं लेकिन उन्हें निर्जीव माना जाता है। यहाँ हम मनुष्य और उससे संबंधित संचरण की बात कर रहे हैं। संचार का अर्थ है- एक जगह से दूसरी जगह जाना और जनसंचार का अर्थ है- जन के अंदर ज्ञान, सूचना का संचारित होना।

मानव और प्रकृति का संबंध पुरातन काल से चला आ रहा है। सभ्यता के प्रारंभ में आदि मानव पूरी तरह से प्रकृति पर निर्भर था और उसकी हर घटना को आश्चर्य से देखता था, साथ ही उससे एक नया सबक लेता था। सभ्यता के प्रारंभ में हर प्राकृतिक घटना उसे भयभीत कर देती थी, जिसे मानव ने प्रारंभिक दौर में ईश्वरीय गुणों से संपन्न किया। दिन में सूर्य का उदय होना, रात को चंद्रमा का उदय होना, आँधी-तूफान, जलप्रलय और भूकंप आदि तमाम घटनाओं ने विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक ईश्वर की कल्पना की थी। आदि मानव ने प्रकृति से बहुत कुछ सीखा था। तमाम मुश्किलों से निजात पाना जैसे उसके जीवन-कौशल का अभिन्न हिस्सा था। कहते हैं कि होने वाली हर प्राकृतिक घटना घटित होने से पहले सूचना अवश्य दे देती है। जो प्रकृति के जितना ही करीब होता है उसे उसकी सूचना उतनी ही जल्दी मिलती है। सूचनाओं के माध्यम के रूप में प्रकृति का स्थान सबसे महत्वपूर्ण रहा है जिसकी भाषा हम नहीं समझ पाते। हम जितने वैज्ञानिक और आधुनिक होते जाते हैं प्रकृति से सूचना प्राप्त करने में उतने ही अक्षम होते जाते हैं। लेकिन जो प्रकृति के बीच में रहने वाले हैं उनको प्राकृतिक आपदाओं से पूर्व सूचनाओं के लिए किसी भी यंत्र की जरूरत नहीं पड़ती। वह प्राकृतिक गतिविधियों को देखकर पूर्वानुमान लगा लेते हैं। आज भी हम देखते हैं कि सुनामी या किसी प्राकृतिक विपदाओं के समय जंगलों में रहने वाली जनजातीय जातियाँ कैसे ज़िंदा बच जाती हैं। लेकिन जैसे-जैसे मानव सभ्यता विकसित होती गई, मनुष्य प्रकृति से दूर होता गया और उससे ये सारे कौशल विलुप्त होते चले गए। धीरे-धीरे मानव बस्तियाँ बनी और लोगों ने समूह में रहने की शुरुआत की।

* **एसिसटेंट प्रोफेसर, आत्मा राम सनातन धर्म कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली**

भारतीय इतिहास में सिंधु घाटी सभ्यता को पहली व्यवस्थित सभ्य बस्ती (सभ्यता) होने का श्रेय दिया जाता है। जहाँ रहने के साथ-साथ लगभग सभी बुनियादी सुविधाएँ मौजूद रही होंगी। आर्यों के आने के साथ ही इस सभ्यता का अंत हुआ। ये लोग इधर-उधर बिखर गए, घुल मिल गए, ठीक-ठीक कह पाना मुश्किल है। इस सभ्यता के बाद धीरे-धीरे किंतु स्पष्ट रूप से हिंदू या आर्य धर्म और साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। आर्य अपने साथ वेदों की श्रुतिपरक परंपरा लेकर आए थे जिसमें मौखिक ज्ञान ही जीवन का आधार था। इसके बाद नए-नए साम्राज्य विकसित हुए जिन्हें गणराज्य की संज्ञा दी गई। प्राचीन भारत में सबसे पहला गणराज्य वैशाली था। आधुनिक भारत के प्रांत बिहार को वैशाली के नाम से जाना जाता था। ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुसार ईसा के लगभग छठी सदी पूर्व वैशाली में ही दुनिया के पहले गणतंत्र (गणराज्य) की स्थापना हुई थी। इसके बाद 16 महाजनपदों[1] का उदय हुआ- मगध, वज्जि, मल्ल, अंग, काशी, कुरु, कोसल, पांचाल, सूरसेन, मत्स्य, अवन्ति, अश्मक, चेदि, कंबोज, गांधार, वत्स इत्यादि। वैदिक धर्म के बाद बौद्ध धर्म और जैन धर्म का उदय हुआ। हिंदू धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म के कारण धार्मिक ग्रंथों की संख्या में भरमार हो गई। इस समय तक ज्ञान का प्रमुख साधन ये धार्मिक ग्रंथ ही थे जिनमें धर्म, नीति, चिकित्सा और ईश्वरी ज्ञान की चर्चा की गई थी। ऐतिहासिक घटना को अगर हम भाषा की दृष्टि से देखें तो भाषा का विकास इस प्रकार मिलता है- संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, अवहट्ट, पुरानी हिंदी और हिंदी। इन सभी भाषाओं से वेद, पुराण, अरण्यक, उपनिषद, त्रिपिटक और आगम जैसे धार्मिक-ग्रंथ मिलते हैं। जिनका मुख्य उद्देश्य अपने धर्म का प्रचार-प्रसार करना होता था। ये सारे धार्मिक ग्रंथ एक प्रकार की सूचनाओं के स्रोत थे जिनका उद्देश्य लोगों को अपने धर्म का विस्तार करना था और यही जीवन में ज्ञान आधार था जिनका अनुकरण हम किसी न किसी रूप में आज तक करते आ रहे हैं।

पौराणिक महाकाव्य में सूचनाओं का प्रसारण और घटनाओं का आँखों देखा हाल सुनाते थे। इसी कारण रचनाकारों को ईश्वरीय और महर्षि का दर्जा प्राप्त था। ऋषि मुनियों का उवाच उन्हें हर प्रकार का संदेश देता था क्योंकि इन वाक्यों में भविष्य दृष्टा के द्वारा संदेश, ज्ञान और सूचनाओं का प्रसारण किया जाता था। प्राचीन काल में लोग साहित्य को ही सूचना एवं ज्ञान-विज्ञान का भंडार समझते थे जब पत्रकारिता और मीडिया जैसे शब्दों का अस्तित्व ही नहीं था। समाज में जीने का ढंग ही साहित्य से आता था। नाटक, नौटंकी, लघु खेलों, कठपुतली, नगाड़ा, ढोल से ही आम जनता सूचनाओं से रूबरू होती थी। समाज में जो भी स्थिति हो लेकिन साहित्य में संदेश के आदान-प्रदान के लिए बहुत सारे पशु-पक्षियों, मानव और मानवेत्तर साधनों का काव्य-रूढियों के बतौर प्रयोग हुआ है।

धार्मिक-ग्रंथ ज्ञान और सूचना के आधार तो थे ही लेकिन इससे हटकर सूचनाओं का प्रारंभ सीधे प्राचीन काल से ही हो गया था। अगर ऐतिहासिक दृष्टि से देखते हैं तो प्राचीन काल में सम्राट अशोक ने अपने पूरे साम्राज्य में कई प्रकार के लेख लिखवाए थे। इतिहास में शायद ही किसी सम्राट ने इस प्रकार का प्रयोग किया हो। अगर कुछ अंश तक किया भी तो वह इसका अनुकरण मात्र था। अपने लेखों के माध्यम से सम्राट अशोक ने जनता को संदेश और चेतावनी दोनों प्रकार की सूचनाएँ दीं थीं। सूचनाओं के त्वरित संप्रेषण लिए

घोड़े और कबूतरों का प्रयोग किया जाता था। मध्यकाल तक गुप्तचर, व्यापारी, चरवाहे, भ्रमण करने वाले साधु-संन्यासी, तीर्थयात्री सूचनाओं के प्रमुख स्रोत थे। थोड़ी परिवर्तित दृष्टि से देखें तो कुछ स्मारक भी महज सूचनार्थ बनाए जाते थे जैसे पूरी का लिंगराज मंदिर, चित्तौड़गढ़ का प्रकाश-स्तंभ, क़ुतुबमीनार, ताजमहल इत्यादि।

मुगलकाल में वस्तुओं के आयात के आधार पर भी संचार का अंदाज़ा भी लगाया जा सकता है "अबुल फ़ज़ल की कृति 'आइन-ए-अकबरी' में क़ुल्फ़ी की चर्चा है। अबुल फ़ज़ल ने अपनी रचना में क़ुल्फ़ी के प्रति बादशाह की दिलचस्पी को बड़ी सहजता से उकेरा है। इतिहास के पन्नों को पलटने पर पता चलता है कि मुग़ल सम्राट जहाँगीर की पत्नी नूरजहाँ को भी क़ुल्फ़ी बेहद पसंद थी। उनके लिए ख़ासतौर पर क़ुल्फ़ी ज़माने के लिए हाथी, घोड़ों, नाव और पैदल सेना द्वारा हिमालय पर्वत से सीधे बर्फ़ आगरा लाई जाती थी। हर 18 मील के अंतराल पर घुड़सवार सैन्य टुकड़ी को तैनात किया गया था जिसका काम हिमालय से आगरा तक बर्फ़ पहुँचाना था। बर्फ़ को पिघलने से बचाने के लिए संरक्षण गृह भी बनाए गए थे। हिमालय की झील से लाई गई इस बर्फ़ में दूध और फलों को मिलाकर नूरजहाँ के लिए क़ुल्फ़ी तैयार की जाती थी।अंग्रेज़ी शासन काल में क़ुल्फ़ी का कायाकल्प हुआ। बर्फ़ हिमालय की जगह फ्रिज से आने लगी थी।"[2]

सुशासन के लिए सूचनाओं की त्वरित जानकारी अतिआवश्यक है

"इब्नबतूता जब हिंदुस्तान पहुँचा तो यह देखकर प्रभावित हुआ कि समस्त घटनाएँ किस तेज़ी से सुल्तान के पास पहुँचती थी। डाक दो प्रकार से वितरित होती थी - पैदल और घुड़सवारों द्वारा. पैदल डाक ले जाने वाले हरकारा कहलाते थे। पैदल डाक का प्रबंध इस प्रकार होता है कि एक मील में तीन चौकियाँ डाक ले जाने वालों की होती है। इसे 'दावा' कहते हैं. इसका अर्थ मील का ⅓ भाग है। मील, करो के नाम से प्रसिद्ध है। प्रत्येक डाक ले जाने वाले के पास एक लंबा डंडा होता था जिस पर ताँबे की घंटियाँ बंधी होती थी। संपूर्ण राज्य में दिल्ली से दौलतबाद तक सड़कों का जाल बिछा हुआ था। जिस में डाक चौकियाँ बनी हुई थी। जो 'दरोग़ा-ए-डाक चौकी' के अधीन थी. बैलगाड़ी एवं टट्टुओं पर मुसाफ़िर एवं भारी सामान एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजा जाता था। विद्रोह एवं व्यक्तिगत जीवन की जानकारी उससे संबंधित घटनाएँ तेज़ी से सुल्तान के पास पहुँचती थी। ख़ुरासान से ताज़े फल मँगाए जाते थे। फूल, गंगाजल दौलताबाद पहुँचाए जाते थे।डाक शीघ्र पहुँचाने के लिए सुल्तान ने सड़कों की अच्छी व्यवस्था की थी। इब्नबतूता ने 1341 ई॰ मुख्यमार्गों पर छायादार वृक्ष, सराय व कुएँ देखे. इनसे घटनाओं एवं समाचार के बारे में जानकारी सुल्तान को तुरंत प्राप्त हो जाती थी।"[3]

1857 के विद्रोह के समय सूचनाओं के प्रसारण के लिए कमल के पत्ते में रोटी में लपेट कर दूसरे गाँव भेजी जाती और जिस गाँव में यह रोटी पहुँचती, वहाँ के लोग तुरंत रोटी बनाकर उसे कमल के पत्ते में लपेटकर अगले गाँव में भेज देते। हालांकि यह क्रांति सफल नहीं हो पाई फिर भी धीमे ही सही सूचनाओं का प्रसार का

दौर शुरु तो हुआ। कमल के पत्ते और रोटी का संबंध सूचनाओं के प्रसार के लिए महत्वपूर्ण कदम था। ब्रिटिश काल में डाक, रेल की स्थापना के साथ चिट्ठी, टेलीग्राम के साथ सूचना और संप्रेषण के स्तर पर काफ़ी तीव्रता आयी।

मध्यकाल में आकर भी यह स्थिति वैसी की वैसी बनी रही। नाटक, नौटंकी, कठपुतली, खेल-तमाशा, ढोल-नगाड़ा, साधु-संतों की बानियों का प्रभाव बना रहा। साधु संतों की वाणी जनमानस के मन मस्तिष्क को उद्वेलित करती रहीं।

आधुनिक काल के आते-आते जब समाचार पत्र का प्रकाशन होने लगा तब भी जन सामान्य और ग्रामीण वर्ग उसी ढर्रे पर चलता रहा। समाचार पत्र केवल अभिजात और शिक्षित वर्ग के ज्ञान सूचना का साधन बन पाए। रेडियो के आ जाने से अशिक्षित और ग्रामीण लोग भी सूचनाओं के लिए इलेक्ट्रॉनिक मीडिया पर निर्भर हो गए। जो काम समाचार पत्र और पत्रिकाएँ नहीं कर पाई वह काम बीसवीं शताब्दी के नौवें दशक में टेलीविजन ने कर दिखाया। टेलीविजन का आगमन काफी मनोरंजक और विस्फोटक रहा। बीसवीं शताब्दी के अंत में पेजर आया लेकिन इस संदर्भ में इसकी उपयोगिता टेलीफोन तक आकर सिमट गई। लेकिन मोबाइल और लैपटॉप का आना सूचनाओं के संदर्भ में एक क्रांतिकारी कदम हुआ। फिर मोबाइल ने लैपटॉप को भी पीछे छोड़ दिया और काफी आगे निकल गया। सर्वगुण संपन्न मोबाइल ने तो जैसे दुनिया ही बदल दी। इसने किसी सूचनाओं की झड़ी लगा दी। मोबाइल से खास और आम आदमी ऐसे जुड़ा मानो इसका गुलाम बनकर रह गया। तमाम एप्लीकेशन जैसे गूगल, व्हाट्सएप, यूट्यूब, फेसबुक, ट्विटर, इंस्टाग्राम, टिकटोक से सूचनाओं का विस्फोट होने लगा। जो काम साहित्य और सामाजिक पत्र-पत्रिकाएँ, सिनेमा, रेडियो, टेलीविजन, पेजर नहीं कर पाए वह इस छोटे से यंत्र ने कर दिखाया। अपनी मुट्ठी में मोबाइल रखने वाला इंसान खुद कब मोबाइल की मुट्ठी में आ गया उसे पता ही नहीं चल सका। देखते ही देखते दुनिया बदल गई।

आज का समय सूचनाओं की बाढ़ का समय है सुबह उठते ही आम और खास व्यक्ति व्हाट्सएप, फेसबुक, ट्विटर की दुनिया में खो जाता है। कभी-कभी तो अंदाजा लगाना मुश्किल होता है कि कौन सी सूचना सही है, किस पर विश्वास किया जाए। अगर व्यक्ति कमजोर दिल का हुआ तो हो सकता है उसे दिल का दौरा पड़ जाए। फेसबुक पर ऐसी-ऐसी पोस्ट होती हैं और उसमें ऐसे-ऐसे संवाद चलते हैं जिसे पढ़कर अंदर कुछ अजीब सा घटित होता है। कुछ लोग लिखते हैं जिन्हें बस लिखना होता है। क्या लिख रहे हैं और क्यों लिख रहे हैं ? इनका आपस में कोई संबंध नहीं होता। उन्हें बस लिखना है और कुछ नहीं। सोशल मीडिया ने आज जनसाधारण को भी वह सभी अधिकार प्रदान कर दिए है जिससे वह अपनी अभिव्यक्ति कर सके। लेकिन दूसरी तरफ व्हाट्सएप और यूट्यूब पर ऐसे ऐसे वीडियो होते हैं जिसे देखकर लगता है जैसे कि उसे कोई आतंकवादी संगठन चला रहा हो। अपनी विचारधाराओं के प्रसार हेतु कुछ चुनिंदा लोग अपनी विचारधारा का ऐसे प्रचार करते हैं जिसे देख सुनकर कोई भी पथ-भ्रमित हो जाए। फिर तो इसे देखने सुनने वालों में अल्प

वयस्कों की संख्या बहुत होती है। हो सकता है मानसिक स्तर पर कुछ हद तक परिपक्व हों लेकिन उनको दिग्भ्रमित करने की संभावना उतनी ही प्रबल होती है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि किसी भी प्रकार की सूचनाओं के लिए किसी के पीछे भागने की जरूरत नहीं है लेकिन क्या सही है और क्या गलत है इसका निर्धारण कौन करेगा?

आज इस मोबाइल यंत्र में सबसे ज्यादा प्रयोग व्हाट्सप्प का होता है और जो सिलसिला सुबह शुरू होता है वह देर रात तक चलता रहता है। कारण यही कि इसके माध्यम से लोग बहुत ज्यादा ठगी के शिकार होते हैं। इसमें क्या शिक्षित और क्या अशिक्षित अधिकांश ठगी के शिकार हो जाते हैं।

सुबह उठते ही आजकल मोबाइल पर तरह-तरह के बाबाओं के समुदायों के संदेश आ जाते हैं जिस पर समुदाय के बाबा की फोटो के साथ यह संदेश कि ''घबराओ नहीं भक्त मैं तुम्हारे साथ हूँ।'' तमाम बाबाओं के कारावास विश्राम के बावज़ूद भी समाज को कोई न कोई बाबा मिल ही जाता है। परिस्थितियाँ चाहे जो भी हों ऐसे लोग अपना नया धंधा ढूँढ ही लेते हैं। या तो लोग मूर्ख और अंधविश्वासी हैं या और कोई रास्ता नहीं मिलता पता नहीं।

सर्वे भवंतु सुखिनः सर्वे संतु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यंतु मां कश्चित् दुख भाग भवेत।।

जिस संस्कृति में दूसरों को सुखी देखने की भावना हो वहाँ भी एक-दूसरे को परेशान करने की भावना प्रबल हो रही हैं। आज देश-दुनिया में बहुत प्रगति हो चुकी है। एक समय था जब प्रवासी साथियों से हम सुनते थे कि फलां देश में मशीन होती हैं जिनमें कार्ड डालकर कभी भी पैसा निकाला जा सकता है। नवें दशक के अंत में भारत में भी यह बात होने लगी थी। मोबाइल का प्रचलन शुरू हुआ ही था कि लोग कहने लगे थे कि एक दिन ऐसा आएगा जब बैंक के सारे काम आप मोबाइल से ही कर लेंगे और वही हुआ भी। सच में हमने खूब प्रगति की है और आज भी कर रहे हैं। इसके अपने फायदे हैं तो नुकसान भी हैं। आए दिन फ्रॉड की घटनाएँ आम हो गई हैं। अशिक्षित और कम पढ़े लिखे लोग ही नहीं बल्कि बुद्धिमान कहे जाने वाले लोग भी धोखाधड़ी के खूब शिकार हो रहे हैं। जब भी हम टेक्नोलॉजी का सही और सजग होकर इस्तेमाल नहीं करेंगे ऐसी घटनाओं का होना जारी रहेगा।

जैसे-जैसे वेब की दुनिया बढ़ रही है लोग परंपरागत ज्ञान के स्रोत पुस्तकों से दूर होते जा रहे हैं। आज के पाठक को हर प्रकार का ज्ञान सिर्फ एक क्लिक पर मिल जाता है। उसे इधर-उधर भागने की बिल्कुल जरूरत नहीं पड़ती। अब पुस्तक मेले में आने वाले लोगों की संख्या धीरे-धीरे कम होने लगी है। हिंदी साहित्य के संदर्भ में अर्चना वर्मा[4] कहती हैं कि---- "इस पीढ़ी को रचना के नए माध्यम और मंतव्य दोनों ही एक साथ सामने उपस्थित युगांतर के दबावों में ढल रहे हैं और उसे हिंदी के बहुसंख्यक साहित्य प्रेमियों के लिए अपरिचित और

अबूझ बल्कि कई बार असहिष्णु और उग्र बना रहे हैं।--- आज साहित्य के मुद्रण माध्यम और पुस्तकीय आकार अप्रासंगिक हो रहे हैं ना कि साहित्य पिछड़ रहा है। नए माध्यमों की तरह इंटरनेट और वेब के उपयोग से सोशल मीडिया मतलब फेसबुक, ब्लॉग, वेबसाइट वगैरह ----- साहित्य की प्रासंगिकता नहीं उसका कायाकल्प है----- साहित्य के साथ नई पीढ़ी के रिश्ते को समझने और परिभाषित करने की पहली कोशिश इस कायाकल्प को ही देखिए समझने की होनी चाहिए।" अंत में केवल यही कि टेक्नोलॉजी में सिक्स सेंस तो आ गया लेकिन समाज आज भी सड़ी-गली रूढ़ियों में पड़ा हुआ है। उसमें कोई सेंस विकसित नहीं हुआ है। आज भी देश में जाति के नाम पर, धर्म के नाम पर, क्षेत्र के नाम पर दंगे-फसाद और ख़ून-ख़राबा होता रहता है। जब तक हम साहित्य और समाज में नवीनीकरण नहीं करेंगे तब तक समाज आगे नहीं बढ़ सकता और स्वस्थ समाज का निर्माण नहीं हो सकता। इस संदर्भ में मीडिया अपनी अहम भूमिका निभा सकता है। लेकिन आज स्थिति यह है कि मीडिया समाज को जोड़ने की वजह तोड़ने में लगा हुआ है। साथ ही साथ साहित्य का कल्याणकारी भाव भी समाप्त होता जा रहा है।

इंटरनेट पर ठगी की घटनाएँ अब आम हो गयी हैं। तमाम सूचनाओं के बावजूद भी लोग अकसर ठगी का शिकार हो ही जाते हैं। इसलिए यह ज़रूरी हो जाता है कि हम सूचनाओं का इस्तेमाल सोच-समझकर करें। सूचनाओं के अथाह भंडार में क्या ग्रहण करने योग्य है और क्या नहीं। तमाम विकल्पों में से सही विकल्प चुनाव पाठक के ऊपर निर्भर है कि क्या ग्राह्य और अनुकरणीय है।

संदर्भ :-

[1] इसकी जानकारी बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तर निकाय और जैन ग्रन्थ भगवतीसूत्र से प्राप्त होती है|

[2] अमर उजाला : 26 जुलाई, 2015

[3] डॉ. शेफाली बनर्जी : मध्यकालीन इतिहासकार एवं इतिहास लेखन, मिश्रा ट्रेडिंग कारपोरेशन, टी-20 ए, क़िला कालोनी, राजघाट, वाराणसी, पृ. 126

[4] अर्चना वर्मा : सोशल मीडिया का साहित्य, जनसत्ता 11 दिसंबर, 2016

UGC Approved List of Journals

You searched for **22311351**

|| Home ||

Total Journals : 1

Show 25 entries Search:

View	Sl.No.	Journal No	Title	Publisher	ISSN	E-ISSN
View	1	49359	padchinh	ajay parmar	22311351	

Showing 1 to 1 of 1 entries

Previous 1 Next

UGC Journal Details

Name of the Journal :	padchinh
ISSN Number :	22311351
e-ISSN Number :	
Source:	UNIV
Subject:	Gender Studies;Hindi;Social Sciences(all)
Publisher:	ajay parmar
Country of Publication:	India
Broad Subject Category:	Multidisciplinary

Print